

गणं सरणं गच्छामि

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

प्रकाशक :

आदर्श साहित्य विभाग

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनू-341306

जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (01581) 226080,244671

ई-मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at

<https://books.jvbharati.org>

© जैन विश्व भारती, लाडनू

संस्करण : 2021

मूल्य : 00/- (..... रुपये मात्र)

₹.....

मुद्रक :

GANNM SARNAM GACHAMI
by Sadhvipramukha Kanakprabha

शुभाशंसा

साहित्य ज्ञान का संवाहक होता है। किसी भी संस्कृति को परम्परित बनाए रखने में साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। अपेक्षा इस बात की रहती है कि साहित्य प्राणवान हो। वह केवल शब्दों का समूह ही नहीं, वह अपने ठीक निशाने पर वेध करने वाला भी होना चाहिए। वह पाठक के लिए सुबोध और सुग्राह्य भी होना चाहिए। कोई-कोई साहित्य दुर्बोध भी हो सकता है, जिससे पाठक के मस्तिष्क की एक्सरसाइज हो सके और जो कुछ गंभीर अध्येताओं की दृष्टि से ही निर्मित किया गया हो।

हमारे धर्मसंघ जैन श्वेताम्बर तेरापंथ में साहित्य की सुर-सरिता भी अपनी गति से प्रवहमान है। परमपूज्य आचार्य भिक्षु, परमपूज्य श्रीमद् जयाचार्य, परमपूज्य गुरुदेव आचार्य तुलसी और परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञ आदि के साहित्य को हमारे धर्मसंघ के परिप्रेक्ष्य में महिमामण्डित साहित्य के रूप में देखा जा सकता है।

महाश्रमणी संघमहानिदेशिका असाधारण साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने भी हमारे धर्मसंघ की साहित्य-सम्पदा को संवर्धित करने में अपना विशिष्ट योगदान प्रदान किया है। साध्वीप्रमुखाजी हिन्दी, संस्कृत आदि अनेक भाषाओं की विदुषी है। भाषायी ज्ञान के साथ-साथ उनकी काव्य प्रतिभा भी श्लाघनीय है। साहित्य-सम्पादन में उन्होंने कौशल प्राप्त किया है, ऐसा प्रतीत होता है। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी के साहित्य को प्रकाशनाह बनाने में उन्होंने अपनी प्रतिभा का भी भरपूर उपयोग किया। तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर दीक्षित हुई साध्वीप्रमुखाजी की साहित्यिक प्रतिभा ने सम्पादन की सीमा पारकर लेखन-सिन्धु में भी अवगाहन किया है। उनकी स्वयं की लिखित पुस्तकें भी हमारे धर्मसंघ के साहित्य-सन्दोह का एक सुन्दर हिस्सा है।

साध्वी-समुदाय आदि के प्रबन्धन-प्रशासन कार्य में पिछले करीब पचास वर्षों से अपनी सेवा अर्पण करने वाली साध्वीप्रमुखाजी का साध्वीप्रमुखा काल का पचासवां वर्ष चल रहा है। इस उपलक्ष्य में मेरे इंगित के अनुसार उनके साहित्य को नए रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। जीवन के नौवें दशक में यात्रायित साध्वीप्रमुखाजी लम्बे काल तक अन्यान्य सेवाओं के साथ साहित्य-जगत की भी सेवा करती रहीं। साध्वीप्रमुखा कार्यकाल के अमृत-महोत्सव के उपलक्ष्य में जुड़ा हुआ, नई विधा से प्रस्तुत होने वाला यह साहित्य वाङ्मय जगत की सुषमा को बढ़ाने वाला और पाठक आदि को यथायोग्य पथदर्शन देने वाला सिद्ध हो। साहित्य के नवीन रूप में प्रस्तुतीकरण से उनके अमृत महोत्सव की भी उपयोगिता सुष्ठुरूपेण और अधिक सिद्ध हो, मंगलकामना।

7 सितम्बर, 2021
भीलवाड़ा

आचार्य महाश्रमण

पुरोवाक्

धर्मसंघ हमारे लिए आश्वास है, विश्वास है, वातानुकूलित घर है, माता-पिता के समान है और शरण है। संघ में रहने वाला अनुशासन के सूत्र से बंधा रहता है, इसलिए उसके जीवन में कहीं भटकने का अवसर नहीं आता।

तेरापंथ धर्मसंघ एक अनुशासित, मर्यादित और विकासशील धर्मसंघ है। इसका संविधान विलक्षण है। धर्मसंघ के सभी आचार्यों ने इस संघ का शासन-सूत्र संभालकर आत्मबोध और युगबोध का पथ प्रशस्त किया है। इसीलिए धर्मसंघ सबके लिए शरण है, आश्रयस्थल है और निश्चिंतता का आश्वासन है। संघ-संघपति के प्रति निर्विकल्पमना समर्पित रहते हुए हम लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ते रहें, यही काम्य है।

जयपुर

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

8-12-2021

किसी नए संघ/संगठन की स्थापना करना आचार्य भिक्षु का लक्ष्य नहीं था। एक मात्र आत्महित साधने की उदग्र आकांक्षा ने उनको प्रेरित किया। मौत को मुट्टी में लेकर उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया। नियति का चक्र घूमा। कुछ ही समय बाद उनकी धर्मक्रान्ति को नई पहचान मिली—तेरापंथ। एक बार वे चौंके, पर अवश्यंभाविता को टाला नहीं जा सका। उसी वर्ष आषाढी पूर्णिमा के दिन मेवाड़ के केलवा गांव में उन्होंने भाव दीक्षा स्वीकार की। तीन दिन की तपस्या में किया गया वह उनका अनुष्ठान ही तेरापंथ का स्थापना दिन हो गया।

अनुक्रम

शुभाशंसा	3
पुरोवाक्	5
1. तेरापंथ : पहचान की पादवीथियों पर	9
2. तेरापंथ : सत्य के आईने में	28
3. तेरापंथ : अनुशासनशैली-1	37
4. तेरापंथ : अनुशासनशैली-2	55
5. तेरापंथ : अनुशासनशैली-3	73
6. तेरापंथ : बिखरते मूल्यों का समीकरण	92
7. तेरापंथ : मौलिक उपलब्धियां	97
8. तेरापंथ : मर्यादा-महोत्सव की पृष्ठभूमि	101
9. तेरापंथ : मर्यादित धर्मसंघ	106
10. तेरापंथ : अकल्पित कल्पना	109
11. तेरापंथ : तटस्थ समीक्षा का समर्थक	112
12. तेरापंथ : समालोचना का पक्षधर	120
13. तेरापंथ : अमृत संसद	128
14. तेरापंथ : बुद्धिजीवी सम्मेलन	135
15. तेरापंथ : बरगद की छांव	146
16. तेरापंथ : आध्यात्मिक समृद्धि	150

परिशिष्ट

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा : जीवन-परिचय	158
साध्वीप्रमुखाजी द्वारा सम्पादित साहित्य	162
साध्वीप्रमुखाजी द्वारा आलेखित साहित्य	166

1. तेरापंथ : पहचान की पादवीथियों पर

धर्म एक शाश्वत और सार्वभौम तत्त्व है। उसका तेज कभी मन्द और कभी प्रखर हो जाता है। समय के कुहासे में धुंधलाए उसके तेज को प्रखर बनाने की प्रक्रिया उसे कालखण्डों में बांट देती है। जैनधर्म की दीर्घकालीन परम्परा में चौबीस तीर्थंकर हुए। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ और अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर। बाईस तीर्थंकर इनके मध्यवर्ती रहे। वर्तमान में भगवान महावीर का शासन चल रहा है। प्राचीनकाल में इसकी पहचान निर्ग्रंथ श्रमण या निर्ग्रंथ प्रवचन नाम से होती थी। सम्प्रति यह जैनधर्म या जैन शासन के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान कालचक्र के अवसर्पिणी विभाग का यह प्राग् ऐतिहासिक और ऐतिहासिक विवरण है।

भगवान महावीर

भगवान महावीर जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। विक्रम पूर्व 542 (ईसा पूर्व) बिहार प्रान्त के क्षत्रियकुण्डपुर में उनका जन्म हुआ। तीस वर्ष की युवावस्था में उन्होंने अपने आपको साधना के लिए समर्पित कर दिया। बारह वर्ष और साढ़े पांच महीने के बाद उनकी साधना फली। साधना के शिखर पर आरूढ़ हो उन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना की। हजारों व्यक्ति उनके धर्मसंघ में दीक्षित हुए। लाखों व्यक्ति उनके अनुयायी बने। लगभग तीस वर्ष तक जनपद विहार कर (ईस्वी पूर्व 527) कार्तिक अमावस्या की रात्रि में वे निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

जैन शासन का विस्तार

भगवान महावीर का निर्वाण होने के बाद उनके धर्मसंघ का शासनसूत्र आर्य सुधर्मा ने संभाला। यहां से उत्तरवर्ती आचार्यों की परम्परा का प्रारंभ

हुआ। जब तक सक्षम आचार्यों का नेतृत्व रहा, परम्परा का धागा आगे बढ़ता रहा। नेतृत्व की श्लथता के साथ ही वह श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो धाराओं में विभक्त हो गया। इस विभाग का मूलभूत आधार रहा वस्त्र। यद्यपि भगवान महावीर के समय में सचेल और अचेल—दोनों प्रकार के साधु थे, किन्तु उनकी परंपरा अलग नहीं थी। सचेलता और अचेलता के आग्रह ने जैन शासन को स्पष्ट रूप से दो भागों में बांट दिया। आगे चलकर कुछ और मतभेद उभरते रहे। उनके कारण दोनों की अवान्तर शाखाएं होती चली गईं। दिगम्बर परम्परा की शाखाओं में माथुर संघ, द्राविड़ संघ आदि उल्लेखनीय हैं। श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवासी और संविग्न आदि शाखाएं बहुचर्चित हैं। इसे जैन शासन का विस्तार या बिखराव कुछ भी कहा जा सकता है।

आचार की शिथिलता

भगवान महावीर के बाद नौ आचार्यों की परम्परा तक आचार के विषय में जागरूकता रही। शिथिलता का प्रारंभ आर्य सुहस्ती से माना जाता है। उनके बाद सुविधावादी मनोवृत्ति विकसित होने लगी। इस वृत्ति ने आचार की पवित्रता को दायम स्थान दे दिया। फिर भी उसे सर्वथा उपेक्षित नहीं होने दिया गया। देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के दिवंगत होने के बाद शिथिलाचार ने आक्रामक मुद्रा धारण कर ली। विद्याबल और राज्यबल के सहारे प्रखर आचार के पक्षधरों को दबा लिया गया। स्वच्छन्दता और सुविधावाद के वाहनों पर सवार होकर श्रमणसंघ कहां से कहां तक पहुंच गया, यह एक धूमिल अध्याय है। विक्रम की पांचवीं शताब्दी का उत्तरवर्ती कालखण्ड आचार के हिमालय से अवरोहण की कहानी है।

जैन शासन का अंतिम सम्प्रदाय

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने फिर से आचार की विशुद्धि के लिए शंखनाद किया। उन्होंने मूर्तिपूजा को अमान्य किया और व्यर्थ के क्रियाकाण्डों पर भी कुठाराघात किया। उनके आन्दोलन से प्रभावित होकर एक साथ पैतीलीस व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की। उनका गच्छ लोंकागच्छ नाम से प्रसिद्ध हुआ, पर संघीय व्यवस्था पक्ष पुष्ट न होने से थोड़े समय में ही उसकी अनेक शाखाएं हो गईं।

लौकाशाह के अनुयायियों में लवजी मुनि ने विक्रम संवत् 1709 में दूँढिया सम्प्रदाय का उद्भव किया। कालान्तर में इस सम्प्रदाय के साधु बाईस शाखाओं में विभक्त हो गए। इस कारण उनकी पहचान बाईस टोला नाम से होने लगी। आगे चलकर इस सम्प्रदाय के साधु स्थानकों में रहने लगे तो यह स्थानकवासी नाम से प्रसिद्ध हो गया। स्थानकवासी सम्प्रदाय के बाद तेरापंथ सम्प्रदाय का उद्भव हुआ। जैनधर्म के इतिहास में तेरापंथ को अंतिम सम्प्रदाय कहा जा सकता है।

धर्मक्रान्ति के पथ पर

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य रुघनाथजी के पास दीक्षा ग्रहण की। उस समय उनकी अवस्था पचीस वर्ष की थी। दीक्षित होने के बाद उन्होंने जैन आगमों का गंभीर अध्ययन किया। जिनवाणी पर उनकी प्रगाढ़ आस्था थी। साध्वाचार को आगमों की कसौटी पर परखा। विचार और आचार—दोनों ही उनके मूल्यांकन पर खरे नहीं उतरे। उन्होंने अपने गुरु का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। गुरु के कृपापात्र शिष्य होने पर भी उनको संतोषजनक समाधान नहीं मिला। उनका असमाहित चित्त और जिज्ञासु मन उन्हें बार-बार गुरु के पास ले गया। जब तक समाधान की आशा थी, वे प्रतीक्षा करते रहे। जब समाधान के सभी दरवाजे बन्द हो गए, उन्होंने धर्मक्रान्ति का झण्डा हाथ में ले लिया। विक्रम संवत् 1817, चैत्र शुक्ला नवमी के दिन बगड़ीनगर (पाली) में वे गुरु रुघनाथजी से संबंध विच्छेद कर अलग हो गए।

प्रथम पड़ाव

गुरु से संबंध-विच्छेद के साथ ही आचार्य भिक्षु के पथ में आपदाएं बिछ गईं। पूरे शहर में ठहरने के लिए उन्हें स्थान नहीं मिला। वे शहर छोड़कर जाने के लिए उद्यत हुए तो तेज आंधी ने उनका रास्ता रोक लिया। एक ओर स्थान नहीं, दूसरी ओर गति नहीं। उस दुविधा के समय उन्होंने श्मशान को आवास के लिए चुना। अभिनिष्क्रमण के बाद उनकी पहली रात ठाकुर जैतसिंहजी की छत्री में बीती। अब उस छत्री ने विशाल स्मारक का रूप ले लिया है।

आचार्य भिक्षु ने सम्प्रदाय छोड़ा, उस समय उनके साथ चार साधु और थे। वे सब बगड़ीनगर से प्रस्थान कर जोधपुर पहुंचे, तब तक आठ और साधु उनके सहभागी बन गए। वहां भी स्थान की समस्या थी। वह समस्या थोड़े से पुरुषार्थ से सुलझ गई। बाजार में कुछ खाली दुकानें उनको उपलब्ध हो गईं। वे ठहर गए। वहां जनसंपर्क बढ़ा। कुछ लोगों को उनके विचारों में सत्यता का अनुभव हुआ। वे उनके अनुयायी बन गए। आचार्य भिक्षु वहां से प्रस्थान कर आगे चले गए।

नामकरण

आचार्य भिक्षु द्वारा जोधपुर छोड़ देने पर भी उनके अनुयायी बाजार की दुकानों में धर्मोपासना करते रहे। एक दिन जोधपुर राज्य के महामंत्री (दीवान) फतेहमलजी सिंघी उधर आए। उन्होंने श्रावकों को दुकान में सामायिक करते हुए देखा। स्थानक छोड़कर वहां सामायिक करने का कारण उनकी समझ में नहीं आया। उन्होंने पूछताछ की। श्रावक गेरूलालजी व्यास ने विस्तार से सारी बात बताई। सिंघीजी ने पूछा—‘इस समय कितने साधु हैं? और उनको समर्थन देने वाले कितने श्रावक हैं?’ श्रावकों ने कहा—‘साधुओं की संख्या तेरह है और इस समय उपासना करने वाले श्रावक भी तेरह ही हैं।’ तेरह श्रावक और तेरह साधु—इस संख्या के साम्य ने सिंघीजी को प्रभावित किया।

सिंघीजी के साथ ही वहां एक सेवग जाति का कवि खड़ा था। उसने सारी बात ध्यान से सुनी और कहा—

साध साध रो गिलो करै, ते आप आप रो मंत।

सुणज्यो रे शहर रा लोगां, ऐ तेरापंथी तंत॥

आचार्य भिक्षु के विरोधी लोगों को उपहास करने का मौका मिल गया। अल्पसंख्या को आधार बना वे आचार्य भिक्षु के अनुयायियों को तेरापंथी कहकर मखौल उड़ाने लगे। हिन्दी का तेरह शब्द राजस्थानी में तेरा हो जाता है। आचार्य भिक्षु किसी नए संघ को चलाने के लिए अपने सम्प्रदाय से मुक्त नहीं हुए थे। इसलिए उन्होंने किसी संघ के नाम और व्यवस्था के बारे में कुछ सोचा ही नहीं था, किन्तु लोगों की जुबान पर चढे शब्द को विशेष

अर्थ देने के लिए उन्होंने जिस समय नामकरण का घटना-प्रसंग सुना, उसी समय आसन छोड़ वन्दन की मुद्रा में बैठ भगवान महावीर को नमस्कार करते हुए कहा—‘हे प्रभो! यह तेरा पंथ। यह पंथ प्रभु का है। हम इस पथ का अनुगमन करेंगे और अपनी मंजिल तक पहुंचेंगे। तेरापंथी साधु-साध्वियों के लिए पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति— इन तेरह नियमों का पालन करना अनिवार्य होगा।’

प्रथम विजय

किसी भी धर्म-सम्प्रदाय की तेजस्विता के चार बिन्दु हैं— लक्ष्य के प्रति प्रगाढ आस्था, आचार की निर्मलता, विचारों की दृढता और अभिव्यक्ति की क्षमता। आचार की निर्मलता उनकी धर्मक्रान्ति का मूलभूत आधार था। उनकी वैचारिक दृढता का प्रमाण है—प्रलोभन और विरोध की आंधियों के बीच चित्त की अकम्पता। अभिव्यक्ति की क्षमता का दर्शन उनके जीवन में पग-पग पर होता है। मरुधर की धरती पर अपने पदचिह्न अंकित करते हुए वे आगे बढ़े। अरावली की घाटियों को पारकर उन्होंने मेवाड़ में प्रवेश पा लिया।

चतुर्मास का समय सन्निकट था। आचार्य भिक्षु ने चतुर्मास के लिए केलवा नामक ग्राम को चुना। केलवा में आषाढ शुक्ला त्रयोदशी को पहुंचे। उनके पहुंचने से पहले ही विरोधी स्वर वहां पहुंच चुके थे। स्थानीय लोग भ्रान्त हो गए। उन्होंने उनको स्थान न देने का निर्णय ले लिया। आचार्य भिक्षु अपने सहयोगी साधुओं के साथ गांव में घूमे। उन्हें स्थान नहीं मिला। बहुत परिश्रम और पूछताछ करने पर स्थानीय जैन मंदिर की एक अंधेरी कोठरी उन्हें उपलब्ध हो गई।

वह अंधेरी कोठरी अन्धेरी ओरी के नाम से प्रसिद्ध थी। अनुश्रुति यह थी कि यहां रात्रि के समय रहने वाला प्रातःकाल तक जीवित नहीं रह पाता। किसी दुरभिसंधि से प्रेरित लोगों ने आचार्य भिक्षु को चातुर्मासिक प्रवास के लिए वह स्थान बताया। वे सहज भाव से वहां ठहर गए। रात्रि में सर्प का उपसर्ग हुआ। आचार्य भिक्षु ने नमस्कार महामंत्र का उच्चारण कर उसे दूर

किया। आधी रात के बाद एक दिव्य पुरुष प्रकट हुआ। उसने अपने देव होने की अवगति दी। उसका यह भी अनुरोध रहा कि वे उस स्थान में प्रसन्नता से चातुर्मासिक प्रवास करें।

तेरापंथ के उद्भव का दिन

‘थावर कीजे थरपना, बुध कीजे व्यापार’ – इस कहावत का अन्यत्र कहीं उपयोग हुआ या नहीं, निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, पर तेरापंथ धर्मसंघ की स्थापना कब हुई? इस प्रश्न पर विमर्श करते समय चार बिन्दु सामने आते हैं—

- जिस दिन बगड़ीनगर में आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी सम्प्रदाय से अपना संबंध विच्छेद किया।
- जिस दिन जोधपुर में आचार्य भिक्षु की धर्मक्रान्ति को ‘तेरापंथ’ नाम दिया गया।
- जिस दिन बिलाड़ा या उसके समीपवर्ती किसी क्षेत्र में आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ शब्द की नई व्याख्या की।
- जिस दिन केलवा की अन्धेरी ओरी में आचार्य भिक्षु ने भाव संयम (नई दीक्षा) स्वीकार किया।

तेरापंथ के इतिहास में उसकी स्थापना का मान्य समय विक्रम संवत् 1817 आषाढी पूर्णिमा (ईस्वी सन् 1760, 28 जून) है। उस दिन शनिवार था। यह समय सही है, क्योंकि प्रथम तीन घटनाओं के समय तक आचार्य भिक्षु ने भाव दीक्षा स्वीकार नहीं की थी। उन्होंने केलवा की अन्धेरी ओरी में आषाढी पूर्णिमा को सन्ध्या के समय लगभग साढ़े सात बजे नई दीक्षा स्वीकार की। इसके साथ ही तेरापंथ की स्थापना हो गई। अनुश्रुति है कि उस दिन आचार्य भिक्षु के तीन दिन की तपस्या थी। उनकी तपस्या और साधना के तेज से ही तेरापंथ की तेजस्विता बढ़ी।

महावीर की परंपरा का संवाहक

तेरापंथ अस्तित्व में आया तब तक भगवान महावीर की परम्परा में सैकड़ों आचार्य हो चुके थे। लगभग ढाई हजार वर्षों की उस अवधि में

जैन दर्शन के मौलिक सिद्धांत— अनेकान्त, स्याद्वाद, कर्मवाद आदि की अवधारणाओं में कोई विशेष मतभेद नहीं उभरा था। सभी आचार्य इन सिद्धान्तों पर बल देते थे। मतभेद के मुख्य बिन्दु थे— सचेलता, मूर्तिपूजा, सुविधावाद आदि। इनके कारण जैन शासन अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होता गया। तेरापंथ उनमें नवीनतम शाखा थी, जिसका नेतृत्व आचार्य भिक्षु कर रहे थे।

आचार्य भिक्षु के चिन्तन का आधार था जिनवाणी। दिगम्बर परंपरा के अनुसार उस समय तक जिनवाणी का लोप हो चुका था। श्वेताम्बर परंपरा उपलब्ध आगमों को आचार्य सुधर्मा द्वारा संकलित द्वादशांगी के साथ जोड़ती है। उन आगमों के आधार पर उन्होंने सवस्त्र साधना का पथ स्वीकार किया। मूर्तिपूजा में उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने मंदिर और मूर्ति का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया, पर मूर्ति की पूजा को अध्यात्म-धर्म की मान्यता नहीं दी।

साधु-संस्थाओं में परिव्याप्त सुविधावाद या आचारविषयक शिथिलता आचार्य भिक्षु की धर्मक्रान्ति में मूलभूत प्रेरणा थी। कलयुग में साध्वाचार का परिपूर्ण पालन संभव नहीं है, इस अवधारणा को तोड़कर वे महावीर युग के आचार का पालन करने के लिए संकल्पित थे। उन्होंने जो संकल्प किया, उसे निभाया। इस दृष्टि से उनको आचार का पुनरुद्धारक कहा जा सकता है। आचार्य भिक्षु के उत्तरवर्ती आचार्यों में आठवें आचार्यश्री कालूगणी से मिलकर और उनके धर्मसंघ को देखकर जर्मन विद्वान जे. को. बी. ने कहा—‘मेरी भारत यात्रा की अनेक उपलब्धियों में एक उपलब्धि है भगवान महावीर के युग में जैसे साधु थे, वैसे साधुओं का साक्षात्कार।’ आज तो तेरापंथ के प्रति जनभावना इतनी अनुकूल हो गई है कि उसे जैनधर्म की पहचान या जैनधर्म का पर्याय माना जा रहा है।

धर्म की कसौटियां

उस समय किसी व्यक्ति या समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति को धर्म का नाम देकर धर्म के शुद्ध स्वरूप में विकृतियां घोली जा रही थीं।

आचार्य भिक्षु ने उनका प्रतिवाद करते हुए धर्म की कुछ नई कसौटियां स्थापित कीं। उन्होंने कहा—

- अहिंसा धर्म है, हिंसा धर्म नहीं है।
- संयम धर्म है, असंयम धर्म नहीं है।
- जिन आज्ञा में धर्म है, आज्ञा से बाहर धर्म नहीं है।
- हृदय-परिवर्तन धर्म है, बलप्रयोग धर्म नहीं है।
- धर्म अनमोल है, मूल्य से जो खरीदा जाता है, वह धर्म नहीं है।

धर्म को परिभाषित करने के लिए इस समग्र विस्तार को एक वाक्य में अभिव्यक्ति दी जाए तो कहा जा सकता है—राग-द्वेष-मुक्त प्रवृत्ति धर्म है और राग-द्वेष-युक्त कोई भी प्रवृत्ति धर्म नहीं है।

आचार्य भिक्षु के सामने धर्म को इस रूप में व्याख्यायित करने की अपेक्षा क्यों हुई? इस प्रश्न के समाधान में इतना ही कहना पर्याप्त है कि लोकधर्म और मोक्षधर्म—इन दोनों को एक कर देने से धर्म के सही स्वरूप को समझने में कठिनाई उपस्थित हो रही थी। समाज की आवश्यकता और उपयोगिता के लिए किए जाने वाले कार्यों पर धर्म का मुलम्मा चढा देने से बहुत लोग भ्रान्त हो रहे थे। उनकी भ्रान्ति को तोड़ने के लिए आचार्य भिक्षु ने कहा—

लौकिक व्यवस्थाओं और सामाजिक अपेक्षाओं को अध्यात्म-धर्म के साथ जोड़ने का कोई औचित्य नहीं है। विवाह करना, सन्तान उत्पन्न करना, उसका पालन-पोषण करना, उसे पढ़ाना, उसकी शादी करना— ये सब पारिवारिक व्यवस्थाएं हैं। धर्मशाला बनवाना, विद्यालय बनवाना, हॉस्पिटल बनवाना, अभावग्रस्त व्यक्ति की सहायता करना, भूखे को भोजन खिलाना, प्यासे को पानी पिलाना आदि कार्य सामाजिकता से जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार पुलिस, सेना आदि के कर्तव्य राष्ट्र की अपेक्षाओं से जुड़े हुए हैं। सामाजिक व्यक्ति के लिए ये सब आवश्यक हैं, पर आवश्यक होने मात्र से ये धर्म नहीं हो सकते। धर्म शब्द से ही मोह हो तो इनको लौकिक धर्म में परिगणित किया जा सकता है, किन्तु लोकोत्तर या अध्यात्म-धर्म के साथ इनका सीधा संबंध नहीं है।

सार्वभौम धर्म की घोषणा

तेरापंथ जैनधर्म का नया संस्करण है। आचार्य भिक्षु जैनधर्म के प्रति प्रगाढ आस्था रखते थे, पर वे इसे किसी जाति या वर्ग की सीमा में बांधकर रखना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा—‘भगवान महावीर का मार्ग राजमार्ग है। इस पर चलने का अधिकार सबको है। अमुक व्यक्ति धर्म की आराधना कर सकता है और अमुक व्यक्ति नहीं कर सकता, ऐसी कोई भेदरेखा यहां नहीं है।’ मिथ्यादृष्टि की निरवद्य प्रवृत्ति को धर्म मानकर उन्होंने जैनधर्म के उदार दृष्टिकोण को उजागर कर दिया। अमुक सम्प्रदाय का अनुयायी बनकर ही व्यक्ति धर्म कर सकता है, इस एकान्तवादी धारणा का निरसन कर उन्होंने हर व्यक्ति को धार्मिक बनने का आमंत्रण दिया।

तेरापंथ की मान्यता के अनुसार धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं है। तुम मेरी शरण में आ जाओ, मेरे सम्प्रदाय के अनुयायी बन जाओ, मैं तुम्हारा कल्याण कर दूंगा— आचार्य भिक्षु ने ऐसी गर्वोक्ति कभी नहीं की। उन्होंने कहा—‘ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना होती है तो व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। वेश, सम्प्रदाय, लिंग, रंग और जाति मोक्ष की प्राप्ति में बाधक नहीं हैं। उनकी इस घोषणा का तीव्र विरोध हुआ, किन्तु वे सत्य मार्ग से विचलित नहीं हुए।

धर्म में अधर्म का मिश्रण असंभव

कुछ दार्शनिकों का अभिमत है कि एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीव अधिक पुण्यशाली हैं। उनको पोषण देने के लिए एकेन्द्रिय जीवों को मारना अविहित नहीं है। क्योंकि उनको मारने से जो पाप होता है, उससे अधिक पुण्य/धर्म पंचेन्द्रिय जीवों को पोषण देने से होता है। इस अभिमत का खंडन करते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—‘धर्म और अधर्म का मिश्रण नहीं हो सकता। हिंसा और दया की करनी कभी एक नहीं हो सकती। जिस प्रकार धूप और छांह एक नहीं है, उसी प्रकार अहिंसा और हिंसा एक नहीं है। अन्य पदार्थों में मिलावट हो सकती है, पर अहिंसा में हिंसा की मिलावट नहीं हो सकती।’

आचार्य भिक्षु ने एक समय में दो क्रियाओं का प्रतिवाद किया। जब धर्म और अधर्म की क्रियाएं एकसाथ संभव नहीं है, तब मिश्र धर्म की स्थापना के लिए कोई आधार ही नहीं रहता। जिस प्रकार हिंसा और अहिंसा एक साथ नहीं हो सकती, उसी प्रकार सांसारिक उपकार और आत्मिक उपकार एक साथ नहीं हो सकते। आगम-सम्मत इन मान्यताओं को तीव्र विरोध की आंच झेलनी पड़ी, पर आचार्य भिक्षु का मनोबल इतना प्रबल था कि वे किसी भी विरोध से घबराए नहीं, रुके नहीं और थके नहीं।

पुण्य का स्वतंत्र बन्धन असंभव

तेरापंथ की मौलिक स्थापनाओं में एक है—पुण्य का स्वतंत्र बन्धन नहीं होता, वह निर्जरा धर्म के साथ ही होता है। इस तथ्य को उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है—गेहूं के साथ भूसा होता है, पर भूसे के लिए खेती नहीं होती। धर्म के साथ पुण्य का बन्धन होता है, पर पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है। परम्परा में एक मान्यता यह भी रही है कि अमुक कार्य से धर्म होता है और अमुक कार्य से पुण्य। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में यह विभाग आगम सम्मत नहीं है।

लौकिक और लोकोत्तर की भेदरेखा

तेरापंथ की दान-दया विषयक मान्यताओं को सम्यक् रूप में न समझने के कारण इन्हें विवाद का विषय बना दिया गया। दया के प्रसंग में चूहे-बिल्ली की उछलकूद लगभग दो शताब्दियों तक चलती रही। तेरापंथ के आचार्यों के साथ धर्मचर्चा में यह एक प्रमुख मुद्दा था। बिल्ली चूहे को मारे, उस समय चूहे को बचाना चाहिए या नहीं?

इस प्रसंग को इतने विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया कि चिन्तनशील लोग भी भ्रान्त हो गए। कुएं भांग पड़ी, वाली कहावत के अनुसार कोई व्यक्ति तत्त्व को समझने का प्रयास ही नहीं करता था। जीव बचाने में धर्म की अवधारणा इतनी आकर्षक थी कि गहराई से नहीं सोचने वाला हर व्यक्ति इससे सहमत हो जाता, किन्तु आचार्य भिक्षु ने जीव को बचाने की अपेक्षा उसके प्रति अपने संयम या मैत्री भाव को अहिंसा की कोटि में

लिया। क्योंकि बचाने का मार्ग निरपवाद नहीं है। अहिंसा का निरपवाद मार्ग है—हिंसा करने वाले का हृदय-परिवर्तन। जीव का बचना प्रासंगिक फल हो सकता है। मुख्य फल है हृदय-परिवर्तन। चूहे-बिल्ली की तरह गौओं का बाड़ा, माता-पिता की सेवा, भिखारी को दान देना आदि ऐसे काम हैं, जो सामाजिक कर्तव्य के रूप में किए जाते रहे हैं। आचार्य भिक्षु ने कभी नहीं कहा कि बिल्ली से चूहे को मत बचाओ, गायों के बाड़े में आग लगी हो तो उन्हें मत छुड़ाओ। माता-पिता की सेवा मत करो और किसी भिखारी को दान मत दो। उन्होंने कहा—सामाजिक व्यक्ति ऐसे कामों में अपनी सक्रिय भागीदारी रखता है। क्योंकि यह सब करना समाज की आवश्यकता है, किन्तु समझना इतना ही है कि आवश्यक होने मात्र से कोई भी काम अध्यात्म-धर्म नहीं हो सकता।

दान, दया आदि विषयों के लौकिक और लोकोत्तर स्वरूप को समझ लिया जाए तो किसी प्रकार की भ्रान्ति को अवकाश ही नहीं रहता। भ्रान्ति वहीं पनपती है, जहां दुराग्रह हो और तत्त्व को समझने का लक्ष्य न हो। तेरापंथ के मंतव्य अध्यात्म-धर्म को केन्द्र में रखकर निर्धारित किए गए हैं। लौकिक दृष्टि से तेरापंथी श्रावक भी अपने सामाजिक दायित्व के प्रति उदासीन नहीं है। संक्षेप में यह समझा जा सकता है कि जितने सामाजिक कर्तव्य हैं, उन्हें धर्म या पुण्य के प्रलोभन से क्यों किया जाए? प्रलोभन, बलप्रयोग और सामाजिक आवश्यकता को अहिंसा की दृष्टि में क्यों रखा जाए? इस संदर्भ में आचार्य भिक्षु ने मौलिक चिन्तन दिया। भगवान महावीर के धर्मशासन में चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियां दीक्षित हुईं। उनकी साधना अपने-अपने आचार्यों के नेतृत्व में चलती थी। भगवान महावीर के बाद ढाई हजार वर्षों की अवधि में अनेक प्रभावशाली आचार्य हुए, पर उन्होंने अनुशासन या संगठन की दृष्टि से कोई नया काम नहीं किया। परंपरा से संगठन के जो सूत्र उन्हें उपलब्ध हुए, उनके आधार पर संघ की व्यवस्था होती थी।

आचार्य भिक्षु जागृत प्रज्ञा के धनी थे। उन्होंने समकालीन साधु-संघों की गतिविधियों का अध्ययन किया। उनमें स्वच्छन्दता, शिथिलता और अव्यवस्था की जड़ें गहरी होती दिखाई दीं। उन्होंने वर्तमान की पृष्ठभूमि पर

निर्मित होने वाले भविष्य पर दृष्टि टिकाई। उनकी पारदर्शी दृष्टि में भविष्य का चित्र बहुत सुन्दर नहीं था। उन्होंने चिन्तन किया और एक अनुशासित, मर्यादित एवं सुव्यवस्थित संगठन का सपना देखा। जितना बड़ा सपना, उतना अधिक पुरुषार्थ—इस धारणा के आधार पर उन्होंने जीवनभर पुरुषार्थ किया और एक अनुशासित धर्मसंघ के फलते-फूलते पौधे को देख लिया।

धर्मसंघ में अनुशासन को प्रभावी बनाने के लिए आचार्य भिक्षु ने मर्यादाओं का निर्माण किया। जब-जब उनके सामने विशेष प्रसंग उपस्थित हुए, उन्होंने नई मर्यादा बना दी। उन मर्यादाओं में कुछ मर्यादाओं का मूल्य अधिक था, पर कुछ ऐसी मौलिक मर्यादाएं हैं, जिनकी प्रासंगिकता सदा बनी हुई है। भविष्य में भी उनके सामने कोई प्रश्नचिह्न उपस्थित हो, ऐसा नहीं लगता।

तेरापंथ की आचार्य परंपरा

तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्य की तेजस्वी और यशस्वी परंपरा रही है। उत्तराधिकारी का मनोनयन स्वयं आचार्य करते हैं। चतुर्विध धर्मसंघ उसे हार्दिक भाव से स्वीकार करता है। अब तक इस परंपरा में ग्यारह नाम आ चुके हैं। जो जिन शासन के आकाश में सूरज की तरह चमक रहे हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

1. आचार्य भिक्षु
2. आचार्य भारीमाल
3. आचार्य रायचन्द
4. आचार्य जीतमल (जयाचार्य)
5. आचार्य मघराज
6. आचार्य माणकलाल
7. आचार्य डालचन्द
8. आचार्य कालूराम
9. आचार्य तुलसी

10. आचार्य महाप्रज्ञ

11. आचार्य महाश्रमण

वर्तमान में धर्मसंघ का शासनसूत्र आचार्यश्री महाश्रमण संभाले हुए हैं। उनके सक्षम नेतृत्व में धर्मसंघ ने विकास के अनेक नए क्षितिज उन्मुक्त किए हैं। आचार्यश्री अपने संघीय दायित्व के प्रति जितने जागरूक हैं, विश्व मानव की समस्याओं के प्रति भी उतने ही सचेत हैं। युगीन समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान जैसे व्यापक कार्यक्रमों में अपनी शक्ति का नियोजन किया है।

जैन शासन में साध्वियों का स्थान

भागवान महावीर ने साधना या मोक्ष की आराधना के विषय में स्त्री और पुरुष के बीच कोई भेद नहीं किया। उन्होंने अपने धर्मशासन में पुरुषों को दीक्षित किया तो स्त्रियों को भी दीक्षित किया। उनके संघ में साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या तीन गुना अधिक थी। उन्होंने अपनी प्रथम शिष्या चन्दनबाला को साध्वी-संघ का नेतृत्व सौंपकर उनकी प्रशासनिक क्षमता को विकसित होने का अवसर दिया।

आचार्य भिक्षु के नेतृत्व में तेरापंथ धर्मसंघ का उद्भव हुआ, उस समय साध्वियां नहीं थीं। विरोधी लोगों ने व्यंग्य किया—‘लड्डू अधूरा है।’ आचार्य भिक्षु ने तत्काल कहा—‘लड्डू अधूरा भले ही हो, पर है चौगुनी चीनी का।’ इसका तात्पर्य यह है कि खंडित होने पर भी लड्डू की गुणात्मकता में कोई कमी नहीं है।

इतिहास बताता है कि तेरापंथ की स्थापना के बाद सबसे पहले दीक्षित होने वाली तीन बहिनें ही थीं। इससे पूर्व किसी भाई की भी दीक्षा नहीं हुई थी। विक्रम संवत् 1821 में तीन साध्वियों की दीक्षा के साथ ही साध्वी संघ का इतिहास शुरू हो जाता है। उसके बाद साध्वियों की संख्या बढ़ती जा रही है। आज तक वह हजारों का आंकड़ा पार कर गई।

आचार्य भिक्षु के संविधान में साधु और साध्वी की चर्या में कोई मौलिक अंतर नहीं है। प्रवचन, यात्रा, तपस्या, शिक्षा, साहित्य, कला आदि

महत्त्वपूर्ण विषयों में कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जिसमें साध्वियों का प्रवेश न हो। साध्वी होने के कारण वे विकास के किसी अवसर से वंचित नहीं हैं। आचार्यश्री तुलसी के युग में उनकी बौद्धिक क्षमता अधिक उजागर हुई है, इसमें कोई भी दो मत नहीं है।

साध्वीप्रमुखा की परंपरा

तेरापंथ धर्मसंघ में एक आचार्य के नेतृत्व की परंपरा है। इस दृष्टि से साधुसंघ की तरह साध्वीसंघ का नेतृत्व भी आचार्य करते हैं फिर भी साध्वी समुदाय की प्रत्येक गतिविधि का सम्यक् संचालन करने के लिए एक साध्वीप्रमुखा की नियुक्ति की जाती है। युवाचार्य की तरह साध्वीप्रमुखा के मनोनयन का दायित्व भी आचार्य पर रहता है। साध्वीप्रमुखा स्वयं आचार्य की शिष्या होती है और वह किसी भी साध्वी को अपनी शिष्या नहीं बना सकती। फिर भी समग्र साध्वीसंघ के सशक्त प्रतिनिधि के रूप में धर्मसंघ में उनका स्थान बहुत गरिमापूर्ण माना जाता है।

साध्वीसमाज की साधना, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के बारे में चिन्तन करना, उनकी अपेक्षाओं को समझना और यथोचित रूप में उन्हें पूरा करने की व्यवस्था करना आदि सभी कार्यों का दायित्व आचार्य का है, पर उनके संपादन में आचार्य को अपनी सेवाएं समर्पित करती है। तेरापंथ धर्मसंघ में साध्वीप्रमुखा की परंपरा चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य के युग से प्रारंभ होती है। साध्वीप्रमुखा इस नाम का चयन आचार्यश्री तुलसी ने किया। अब तक आठ साध्वीप्रमुखा हो चुकी हैं। इनमें पहला नाम सरदार सती का है। उनके कर्तृत्व से साध्वी-समाज को नया जीवन मिला।

तेरापंथ की पहचान

आज पूरे विश्व के सामने पहचान का संकट बना हुआ है। व्यक्ति, वर्ग, समाज, प्रान्त और राष्ट्र— सभी को इस संकट का सामना करना पड़ रहा है। स्वतंत्र अस्मिता और स्वतंत्र पहचान हर व्यक्ति की आकांक्षा होती है। यह बात धार्मिक परंपराओं या संगठनों पर भी लागू होती है। किसी की पहचान तिलक से होती है, किसी की केस से। किसी की पहचान वेशभूषा से

होती है और किसी की उपासना विधि से। तेरापंथ की मान्यता के अनुसार ये सब पहचान के गौण बिन्दु हैं। उसके मुख्य घटक होने चाहिए— जीवन शैली और जीवन-दर्शन। पहचान के गौण बिन्दु देश-काल सापेक्ष होते हैं। वे बदल भी सकते हैं। शाश्वत या त्रैकालिक पहचान की अपनी मूल्यवत्ता है।

• तेरापंथ की क्या पहचान : एक गुरु और एक विधान

• तेरापंथ की क्या पहचान : धर्म अहिंसा त्याग प्रधान

प्रथम पहचान का संबंध संगठन पक्ष से है। भगवान महावीर की शासन परंपरा में कहीं भी एक आचार्य और एक संविधान वाली बात नहीं है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ के लिए प्रारंभ से ही ऐसी व्यवस्था दी। इस दृष्टि से यह इसकी मौलिक पहचान बन गई।

दूसरी पहचान का संबंध धर्म के स्वरूप निर्धारण से है। आडंबर, प्रदर्शन, अंधविश्वास और भौतिक अभिसिद्धियों को धर्म के साथ जोड़कर उसके स्वरूप को विवादास्पद बनाने का क्रम भी चलता रहता है, किन्तु आचार्य भिक्षु ने अहिंसा और त्याग को धर्म की कसौटी के रूप में स्वीकार कर तेरापंथ को एक नई पहचान दे दी।

पहचान के ये दो दोनों बिन्दु आज बच्चे-बच्चे के मुंह पर मुखर हो रहे हैं। इससे भावी पीढ़ी सहज रूप में मौलिकता से परिचित होती रहेगी।

साहित्य की यात्रा

तेरापंथ के आचार्यों का दृष्टिकोण प्रारंभ से ही सृजनात्मक रहा है। सृजन-चेतना का स्वयंभू साक्ष्य है साहित्य। आचार्य भिक्षु ने उन विषम परिस्थितियों में भी अपनी बुद्धि की धार को भोंथरा नहीं होने दिया। उन्होंने शान्तभाव से संघर्षों का मुकाबला किया और 38 हजार पद्य-प्रमाण साहित्य की रचना कर दर्शन और इतिहास को जीवंतता प्रदान की।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने साहित्य के क्षेत्र में कुछ नई विधाओं को जन्म दिया। किशोर वय से अपनी सृजन-यात्रा शुरू कर वे जीवन के आखिरी क्षणों तक उससे जुड़े रहे। उनकी रचनाओं में एक ओर उत्कृष्ट काव्यात्मकता है तो दूसरी ओर दर्शन के गंभीर तत्वों का समावेश है।

उन्होंने साढ़े तीन लाख पद्य परिमाण साहित्य लिखकर राजस्थानी साहित्य की समृद्धि में बड़ा योगदान दिया है।

तेरापंथ के नौवें अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी का साहित्य विविध आयामी है। उन्होंने हिन्दी, राजस्थानी और संस्कृत में विपुल साहित्य का सृजन किया। आगम-साहित्य का वैज्ञानिक संपादन इस युग की विशिष्ट उपलब्धि है। साहित्य के साथ साहित्यकारों के सृजन की दृष्टि से आचार्यश्री ने अद्भुत काम किया। उनकी पाठशाला के विद्यार्थी साधुओं में मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) अपने युग के विशिष्ट साहित्यकार रहे हैं। सौ से भी अधिक पुस्तकें लिखकर उन्होंने हिन्दी साहित्य की अनूठी सेवा की।

आचार्यों की साहित्य साधना में तीन आचार्यों के उल्लेख का अर्थ यह नहीं है कि अन्य आचार्यों ने कुछ लिखा ही नहीं। उन्होंने भी समय-समय पर कई पठनीय ग्रन्थ लिखे हैं। उक्त तीन आचार्यों की तुलना में उनका साहित्य मात्रा की दृष्टि से कम है। इसी कारण वे साहित्य जगत में इतने चर्चित नहीं हो पाए। लगभग ढाई सौ वर्षों की इस अवधि में साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं द्वारा लिखित साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

बहुआयामी प्रवृत्तियां

तेरापंथ एक प्रगतिशील धर्मसंघ है। परम्पराओं और मर्यादाओं के प्रति गहरी आस्था होने पर भी इसमें किसी प्रकार की रूढ़ता या जड़ता का आभास नहीं होता। एक दृष्टि से इसको शाश्वत और परिवर्तन के बीच का सेतु कहा जा सकता है। एक आचार्य का नेतृत्व और एक संविधान की बात स्वीकृत होने पर भी उसका स्वरूप नितान्त एकतंत्रीय नहीं है। संघ के प्रत्येक साधु-साध्वियों को वैचारिक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। इस अर्थ में इसे एकतन्त्र और जनतन्त्र का समन्वित रूप कहा जा सकता है।

एकसूत्रता होने के कारण धर्मसंघ में विकास की नई प्रवृत्तियां चलाने की सुविधा है। एक ओर संघ में शिक्षा का यथोचित विकास हो रहा है तो दूसरी ओर कला के क्षेत्र में भी नया निखार आ रहा है तथा नैतिक मूल्यों के प्रचार-प्रसार का काम भी गौण नहीं है। आचार्य सहित सात सौ साधु-

साध्वियों की पूरे देश में होने वाली पदयात्राएं और व्यापक जनसंपर्क साधु-संस्थाओं की उपयोगिता के आगे लगे प्रश्नचिह्न को पूर्ण विराम में बदलने वाला उपक्रम है।

सेवा के क्षेत्र में तेरापंथ एक उदाहरण है। संघ के किसी भी साधु-साध्वी को बीमारी और बुढ़ापे की चिन्ता नहीं रहती। जब तक शरीर सक्षम होता है, संघ का प्रत्येक सदस्य संघ को अपनी सेवाएं देता है। अक्षमता की स्थिति में उनकी सेवा का दायित्व आचार्य पर रहता है। एक के लिए सब और सबके लिए एक का सिद्धान्त यहां पूर्ण रूप से घटित होता है। आचार्य जिन साधु-साध्वियों की सेवा में नियुक्ति करते हैं, वे अहोभाव का अनुभव करते हुए पूरे मन से सेवा के कार्य में समर्पित हो जाते हैं। तेरापंथ में सेवा की व्यवस्था का आकलन करने के लिए लाडनूं, बीदासर आदि सेवाकेन्द्रों को देखा जा सकता है।

तब से अब तक

प्रारंभिक वर्षों में तेरापंथ का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित था। क्षेत्र की दृष्टि से वह राजस्थान की मारवाड़ और मेवाड़ रियासत तक सिमटा रहा। उसके पास बहुत बड़े कार्यक्रम भी नहीं थे। साधु-साध्वियों की संख्या भी कम थी। श्रावक समाज का भी विस्तार नहीं हुआ था। धीरे-धीरे क्षेत्र और संख्या का विस्तार हुआ। कार्यक्षेत्र का भी विस्तार हुआ, पर अन्य सम्प्रदाय के लोग इसे स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार नहीं कर सके।

एक शताब्दी पूरी होते-होते तेरापंथ की जड़ें जमने लगीं। फिर भी इसके प्रति अधिक लोगों की सहानुभूति नहीं थी। दूसरी शताब्दी पूरी होने से पहले ही जनभावना में परिवर्तन आने लगा। इसके पीछे अणुव्रत जैसे व्यापक कार्यक्रम का भी बड़ा हाथ रहा। देश के प्रबुद्ध वर्ग और राजनैतिक क्षेत्र में तेरापंथ की पहुंच अणुव्रत के कारण संभव हो सकी।

तेरापंथ के आचार्यों और साधु-साध्वियों की कार्यशैली ने जनता पर प्रभाव छोड़ा। तेरापंथ की रचनात्मक प्रवृत्तियों से लोग परिचित हुए। आचार्यश्री तुलसी की तत्त्व-निरूपण शैली ने तो पूरे माहौल को बदल दिया।

आचार्य भिक्षु की भगवान महावीर के प्रति अनन्य आस्था थी। आचार्य तुलसी की आस्था का केन्द्र भगवान महावीर और आचार्य भिक्षु दोनों हैं। आचार्यश्री की आकर्षक शैली में जैन दर्शन और तेरापंथ दर्शन इतने प्रभावी ढंग से प्रतिपादित हुए कि तेरापंथ की अपनी स्वतन्त्र पहचान बन गई।

उन्मुक्त होते अन्तरराष्ट्रीय क्षितिज

आचार्यश्री तुलसी के युग में तेरापंथ देश की सीमा पार कर विदेशों तक पहुंच गया। अनेक देशों के लोग आचार्यश्री से मिलकर जैन दर्शन के प्रति आकृष्ट हुए हैं। कुछ देशों के लोग प्रेक्षाध्यान का प्रशिक्षण पाने और विश्वशांति के उपाय समझने के लिए आपके सान्निध्य में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में सम्मिलित होते हैं। लाडनू घोषणा-पत्र (ई. सन् 1983) इसका एक उदाहरण है।

विदेश में बसे भारतीय लोगों को जैनदर्शन की जानकारी देने, उनकी भावी पीढ़ी को संस्कारी बनाने तथा वहां के मूल निवासियों तक भगवान महावीर का सन्देश पहुंचाने के लिए समणश्रेणी में दीक्षित आचार्यश्री के शिष्य-शिष्याओं की विदेश यात्राएं भी बहुत कार्यकारी हो रही हैं। साधु और श्रावक के बीच की कड़ी के रूप में स्थापित समणश्रेणी आचार्यश्री की दूरगामी सूझबूझ और महान साहस की प्रतीक बन रही है। धर्म के सिद्धान्तों और प्रयोगों का सम्यक् प्रशिक्षण पाकर विदेश पहुंचने वाले समण-समणियों का कार्य अभी तक शैशव अवस्था में है, फिर भी उसके जो परिणाम आ रहे हैं, उत्साहवर्धक हैं। कुल मिलाकर यह मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए कि तेरापंथ का वर्चस्व कल्पनातीत रूप में बढ़ रहा है।

तेरापंथ कब तक चलेगा ?

व्यक्तिगत स्तर पर आत्म-साधना के उद्देश्य से बोया हुआ तेरापंथ का बीज इतने विशाल वटवृक्ष का रूप ले लेगा, यह किसने सोचा था। आचार्य भिक्षु को संघ बनने और उसके चलने की भी कल्पना नहीं थी। उनके कुछ चिन्तनकण इस सचाई को उजागर करते हैं— 'हम यह नहीं जानते थे कि इस प्रकार संघ बनेगा, इस प्रकार दीक्षाएं होंगी और इस प्रकार लोग समझेंगे।

हमने तो सोचा था कि तपस्या आदि के द्वारा जीवन को पूरा करना है और आत्मा का हित साधना है।' उस समय की थोड़ी-सी सफलता से आचार्य भिक्षु को नई स्फूर्ति मिली। उनमें काम करने का नया उत्साह जागा। वही स्फूर्ति और उत्साह तेरापंथ के उत्तरवर्ती आचार्यों में संक्रान्त होता रहा है। इसीलिए यह विकास के पथ पर गतिमान है।

तेरापंथ धर्मसंघ कब तक चलेगा? आचार्य भिक्षु के सामने यह प्रश्न आया। उन्होंने कहा—'जब तक इस संघ के साधु-साध्वियां नीतिमान रहेंगे और मर्यादा में चलेंगे।' नीति और मर्यादा के प्रति यह आस्था ही तेरापंथ की दीर्घजीविता का रहस्य है। अन्यथा उस उगते हुए बिरवे को उखाड़ने के लिए जितने प्रयास हुए, उनके बीच किसी बद्धमूल सम्प्रदाय का अस्तित्व भी खतरे में हो सकता है। तेरापंथ की नीतिनिष्ठा और मर्यादानिष्ठा से नीति और अनुशासन की सीख पाकर कोई भी धर्म-सम्प्रदाय ऊंचाइयों के शिखर को छू सकता है।

2. तेरापंथ : सत्य के आईने में

सदियों से चलने वाला तेरापंथ धर्मसंघ अपनी गरिमामय आभा से आज भी गौरवान्वित हो रहा है। धर्मसंघ का असाधारण व्यक्तित्व निखार पर है और वह अत्यन्त आत्मतोष के साथ प्रगति पथ को मापता हुआ आगे बढ़ रहा है। इस संघ के आचार पक्ष, अनुशासन और संगठन ने उन सबको प्रभावित किया है, जो इसे नजदीकी से और तटस्थभाव से जान रहे हैं, देख रहे हैं। सवा दो सौ वर्षों के इतिहास में हजारों-हजारों साधु-साध्वियों ने धर्मसंघ की शीतल छांह और सुनहरी धूप में आत्म-समाधि के साथ अपनी जीवनयात्रा पूरी की है। इस क्रम में अनेक साधु-साध्वियां ऐसे भी हुए हैं, जो स्वच्छन्दता आदि कारणों से संघ के अनुशासन को भंग कर तेरापंथ धर्मसंघ से अलग हो गए। आचार्य भिक्षु ने उन साधु-साध्वियों के लिए 'टालोकर' शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द का प्रयोग करते समय उनके मन में न तो कोई दुर्भावना थी और न किसी को अपमानित करने का प्रसंग था। संघ से टलने वाले लोगों की पहचान के लिए सहज भाव से शब्द प्रयुक्त हुआ। पर संघ से अलग हुए साधु-साध्वी इसे भी अन्यथा रूप में लेते हैं। वे स्वयं जानते हैं कि यह शब्द न तो व्यक्तिगत रूप से उनके लिए गढ़ा गया है और न ही किसी के रिसते घावों पर नमक लगाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। किसी को ऐसे शब्द से ही एलर्जी हो तो इसके स्थान पर कोई अन्य शब्द भी काम में आ सकता है, किन्तु संघ से बहिर्भूत या बहिष्कृत व्यक्ति को संघीय सदस्य तो नहीं माना जा सकता।

धर्मसंघ से अलग हो जाने के बाद उस व्यक्ति के साथ संघ का कोई संबंध नहीं रहता। वे कहां रहते हैं, क्या करते हैं और कैसे करते हैं, इन सब बातों से संघ का कोई सरोकार नहीं है। हमें उनके सम्बन्ध में कुछ सोचने की

जरूरत भी नहीं है, किन्तु हम उस समय कुछ सोचने, बोलने या लिखने के लिए बाध्य हो जाते हैं, जब वे हमारे गौरवमय धर्मसंघ पर मनगढ़ंत दोषारोपण करते हैं। स्वयं को सर्वथा निर्दोष मानते हुए संघ को सदोष बताते हैं और अनजान लोगों को भ्रम में डालकर गुमराह बनाते हैं।

जैन संगम की विज्ञप्ति संख्या 69 उक्त तथ्य को प्रमाणित करने वाला ताजा उदाहरण है। उस विज्ञप्ति के प्रथम पृष्ठ पर 'संघ प्रमुख' के विचारों को उद्धृत करते हुए लिखा गया है—'भिक्षु स्वामी हमारे श्रद्धेय और पूज्य थे और आज भी हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उन्होंने जो चिन्तन किया, उस पर हम पूर्णविराम लगा दें। उन्होंने अपने ढंग से सोचा। हम उसी बात को दूसरे ढंग से सोच सकते हैं। भिक्षु स्वामी निश्चय ही मूर्धन्य विद्वान थे, पर उनकी मान्यता में भी चिंतन का अवकाश है। गांव जलाने वाला और जलती आग से बचाने वाला—दोनों एक कैसे हो सकते हैं? माता की अवहेलना करने वाला और उसकी सेवा-शुश्रूषा करने वाला—दोनों एक कोटि में कैसे आ सकते हैं? परम कारुणिक महावीर प्रभु चूके कैसे? इत्यादि प्रश्न प्रखर चिंतन की अपेक्षा रखते हैं।' इन विचारों में पांच मुद्दे उभरकर सामने आए हैं। हम क्रमशः एक-एक बिंदु की समीक्षा करना चाहेंगे।

चिंतन की खिड़कियां

आचार्य भिक्षु सत्य के खोजी थे। उन्होंने अपना पूरा जीवन सत्य की शोध के लिए समर्पित कर दिया था। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि वे जो कुछ कर रहे हैं, वही अंतिम सत्य है। सत्य की शोध करते समय उन्हें जो निष्कर्ष मिले, उन्होंने पूरी ऋजुता के साथ उनको जनता के सामने प्रस्तुत किया। उनके चिंतन की खिड़कियां अंतिम क्षण तक खुली थीं। जब भी उन खिड़कियों से नई हवा और नई रोशनी ने प्रवेश करना चाहा, उन्होंने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। ऐसी स्थिति में उनके चिंतन के आगे पूर्णविराम लगाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि उनके लिए अपशब्दों का प्रयोग किया जाए और उनके दृष्टिकोण को अमानवीय करार दिया जाए, जैसा कि विगत में अनेक बार किया जा चुका है।

आचार्य भिक्षु ने जिस तत्त्व-दर्शन का निरूपण किया, वह कोई कांच का नाजुक घर नहीं है कि आलोचना की बौछार से किरचें-किरचें होकर बिखर जाए। उन्होंने जिस सत्य को उजागर किया, वह दो शताब्दियों पहले जितना सत्य था, आज भी उतना ही सत्य है, बल्कि नई परिस्थितियों के साथ उसकी उपयोगिता और अधिक बढ़ी है। उनकी खोजपूर्ण निगाहों ने अपने युग के पार देखकर जिस सत्य को पकड़ा था, दुस्साहसी कालचक्र उसे किसी भी कोने से खण्डित नहीं कर पाया। उसने तो देश के हर प्रबुद्ध विचारक को चिंतन की एक ठोस जमीन दी है। काश! चिंतन का सिलसिला सही ढंग से आगे बढ़ पाता।

लोकतंत्रीय पद्धति में किसी भी विचार, कार्य और जीवनशैली की आलोचना पर प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह पूर्व पक्ष को सही रूप में समझकर ही उसे अपनी आलोचना की छेनी से तराशे। किसी भी तथ्य को गलत रूप में प्रस्तुत कर उसकी आक्षेपात्मक आलोचना करना उचित नहीं है। जिन लोगों का उद्देश्य या व्यवसाय ही निन्दा करने का हो, उनकी समझ सही कैसे हो? जयाचार्य ने ठीक ही तो कहा है— 'निन्दक टालोकर रै किसव निन्दा रो।' जिसका काम ही किसी व्यक्ति या मन्तव्य को जलील करने का हो, वह सत्य का आईना लेकर क्यों चलेगा?

तेरापंथ की ऐसी कोई मान्यता नहीं

प्रस्तुत विज्ञप्ति में एक वाक्य है— 'गांव जलाने वाला और जलती आग से बचाने वाला—दोनों एक कैसे हो सकते हैं?' आचार्य भिक्षु पर ऐसा दोषारोपण करने वाले महामोहनीय कर्म के बन्ध से भी भयभीत नहीं हुए, ऐसा प्रतीत होता है। अन्यथा ऐसी बेतुकी बात को उनके साथ क्यों जोड़ा जाता? आचार्य भिक्षु ने न तो इस प्रकार की मान्यता कभी निरूपित की और न आज भी तेरापंथ की ऐसी कोई मान्यता है। आचार्य भिक्षु के किस ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख है, कोई आधार तो बताया जाए? गांव जलाने वाले और जलती आग से बचाने वाले को कोई मन्दबुद्धि व्यक्ति भी एक नहीं मान सकता। फिर आचार्य भिक्षु जैसे मूर्धन्य विद्वान के साथ इस विसंगति को जोड़ना कहां का न्याय है?

आचार्य भिक्षु के ग्रन्थों को हमने पढ़ा है। वहां 'विरत अविरत की चौपाई' में एक प्रसंग है—

कोई गांव जलावै नै गायां कटावै,
इत्यादिक कारज सब भूंडा रै।
त्यानै सरावै तै तो बूड गया छै,
तै करणवाला तो विशेष बूडा रे।।

उक्त पद्य के 'गांव जलावै नै गायां कटावै' के स्थान पर 'गांव जलावै नै गायां कटावै' ऐसा करके कितना बड़ा अनर्थ कर दिया गया है। गाय काटने का काम करने वाला कसाई कहलाता है। उसकी तुलना गांव जलाने वाले के साथ हो सकती है। पर जलती गायों को बचाने वाला उसकी तुलना में कैसे आएगा? इस संदर्भ में कोई भी टिप्पणी करने से पहले 'भिक्षु-ग्रन्थ-रत्नाकर' देख लिया जाता तो इस प्रकार सत्य से आंख मूंदने का अवसर नहीं आता। आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों को गलत रूप में प्रस्तुत करने का एक प्रयास कुछ स्थानकवासी साधुओं ने भी किया था। शायद यह उन्हीं का अनुकरण किया गया है।

अविनीत और विनीत एक कैसे होगा ?

विमर्श योग्य दूसरा पहलू है—माता की अवहेलना करने वाला और सेवा-शुश्रूषा करने वाला—दोनों एक कोटि में कैसे आ सकते हैं? आचार्य भिक्षु से लेकर आज तक तेरापंथ की ऐसी मान्यता कभी नहीं रही। माता की अवहेलना करने वाला क्रूर, अविनीत, कृतघ्न और अविवेकी होता है, जबकि उसकी सेवा करने वाला स्पष्ट रूप में विनीत, कृतज्ञ, कर्तव्य-परायण और विवेकी होता है। आचार्य भिक्षु के किस ग्रन्थ को आधार बनाकर ऐसी मान्यता प्रचारित की गई है? इसका आधारभूत कोई पद्य या वाक्य उद्धृत किया जाता तो बात कुछ समझ में आ सकती थी। निराधार मन्तव्य की छीछालेदर का भी कोई अर्थ हो सकता है, यह बात समझ में नहीं आती।

एक व्यक्ति से पूछा गया—तुम्हारे कर्म कितने हैं? वह बोला—मेरे आठ कर्म हैं। उससे दूसरा प्रश्न पूछा गया—गधे के कर्म कितने होते हैं? उसने

कहा—गधे के भी आठ कर्म होते हैं। यह उत्तर सुनकर प्रश्नकर्ता बोला—वाह! भाई! बड़ी विचित्र बात कही। तुम और गधा एक समान हो गए।

गधे और आदमी के कर्म एक समान हो सकते हैं। इस दृष्टि से उन दोनों को एक बराबर माना जाए, यह बात अलग है। अन्यथा गधा और आदमी—दोनों कभी एक नहीं हो सकते। इसी प्रकार माता की अवहेलना करने वाला और सेवा करने वाला—दोनों गृहस्थ हैं। इस अपेक्षा से उन्हें एक माना जा सकता है, पर अवहेलना और सेवा कभी एक नहीं हो सकती।

इस प्रकार के प्रश्न आज ही उपस्थित होते हैं, यह मानना भी ठीक नहीं है। आचार्य भिक्षु के समय में भी उन पर ऐसे अभियोग लगाए गए थे। उन अभियोगों पर उन्होंने सचोट टिप्पणी भी की थी। एक प्रसंग को यहां उल्लिखित किया जा रहा है—

आचार्य भिक्षु के सामने खैरवा के श्रावक ओटोजी स्याल उपस्थित थे। बातचीत के मध्य वे बोले—‘स्वामीजी! (उस समय आचार्य भिक्षु के लिए प्रायः यही शब्द काम में लिया जाता था।) आपकी तत्त्वश्रद्धा ठीक नहीं है। आप श्रावक और कसाई को एक मानते हैं, आचार्य भिक्षु ने पूछा—कैसे?’

ओटोजी ने अपने कथन की पुष्टि में तर्क देते हुए कहा—‘स्वामीजी! आपकी मान्यता है कि कसाई को खाना खिलाना पाप है, ठीक वैसे ही श्रावक को खाना खिलाना भी पाप है। इस अर्थ में कसाई और श्रावक अपने आप एक हो गए।’

आचार्य भिक्षु ने उनके कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—‘हमारी ऐसी मान्यता ही नहीं है। हम श्रावक और कसाई को एक समान कभी नहीं मानते।’ ओटोजी ने इस बात को स्वीकार नहीं किया, तब स्वामीजी ने उन्हीं के शब्दों को दूसरे संदर्भ में प्रस्तुति देते हुए कहा—‘ओटोजी! तुम बाहर घूमते-घूमते अपने घर पहुंचे। तुम्हें देखते ही तुम्हारी मां बोली—बेटा! बहुत जोरों से प्यास लगी है, पानी पिलाओ। तुमने यह बात सुनते ही एक लोटा कच्चा पानी अपनी मां को पिला दिया। कच्चा पानी पिलाने की इस क्रिया से तुम्हें क्या हुआ?’ ओटोजी तपाक से बोले—‘कच्चे पानी में जीव होते हैं। जीव की हिंसा तो पाप ही है।’

इसी प्रसंग को दूसरा मोड़ देते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—‘तुम घर के काम से निवृत्त होकर बाहर निकल रहे थे। उसी समय कोई वेश्या तुम्हारे दरवाजे पर आकर खड़ी हो गई। वह प्यास से व्याकुल थी। उसने भी पानी मांगा और तुमने कच्चा पानी पिला दिया। बोलो, तुम्हें क्या हुआ?’ ओटोजी ने सहज भाव से स्वीकार कर लिया कि इसमें भी पाप ही हुआ।

आचार्य भिक्षु ने कसाई और श्रावक वाली बात की याद दिलाते हुए कहा—‘ओटोजी! हम तो कसाई और श्रावक को एक ही मानते नहीं। पर तुम्हारे कथन से क्या तुम्हारी मां और वेश्या एक समान हो गई? यह सुनकर ओटोजी की आंखें शर्म से झुक गईं। वे कुछ बोल नहीं सके।

ओटोजी के इस प्रसंग को यदि वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो ऐसा लगता है कि तत्त्व की गहराई तक नहीं पहुंचने वाले लोग ही माता की अवहेलना और सेवा को एक कोटि में स्थापित कर देते हैं।

तीर्थकर कभी चूक नहीं सकते

आचार्य भिक्षु की आलोचना करते हुए आगे लिखा गया है कि परम कारुणिक प्रभु चूके कैसे? प्रभु महावीर को चूका कहने की भूल कोई भी विवेकसंपन्न व्यक्ति नहीं कर सकता। केवलज्ञानी बनने के बाद तीर्थकर क्या, सामान्य साधु भी भूल नहीं करते। इस दृष्टि से तीर्थकर की चूक न कभी आचार्य भिक्षु ने बताई और न उत्तरवर्ती आचार्यों ने बताई। छद्मस्थावस्था में हुई जिस चूक को वे विवाद का विषय बना रहे हैं, क्या स्वयं उन्होंने साठ वर्षों तक उसका कथन नहीं किया? आज ही इस विषय में आपत्ति कैसे हुई?

आचार्य की मर्यादा आचार्य के हाथ में

तेरापंथ धर्मसंघ पर छलना का आरोप लगाते हुए कहा गया है कि तेरापंथी जो कुछ कर रहे हैं, उसे खुला स्वीकार करने का साहस उनमें नहीं है। वे उस बात को तोड़मरोड़ कर स्वामीजी के सिद्धांत के फ्रेम में फिट करना चाहते हैं। यह कथन अपने आपमें विडम्बनापूर्ण है। इस बिन्दु पर गम्भीरता से विचार करने पर किसी भी क्षण ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि

स्वामीजी (आचार्य भिक्षु) के सिद्धांतों की अवहेलना की जा रही है। यह बात अवश्य सही है कि सवा दो सौ वर्षों की इस अवधि में धर्मसंघ में अनेक परिवर्तन हुए हैं। उन परिवर्तनों में ऐसा बदलाव एक भी नहीं हुआ जो संघ के मौलिक मन्तव्यों को ठेस पहुंचाने वाला हो। स्वामीजी की मौलिक मर्यादाएं ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं। व्यवस्थाओं या सामयिक मर्यादाओं का जहां तक प्रश्न है, उनमें जो परिवर्तन हुआ है, वह सोच-समझकर किया गया है और स्वामीजी के आदेश से किया गया है। स्वयं स्वामीजी ने अपने उत्तरवर्ती आचार्यों को ऐसा करने का अधिकार दिया है। जैसाकि कहा गया है—‘आचार्य की मर्यादा आचार्य के हाथ में है। श्रद्धा और आचार का कोई भी नया बोल सामने आए, उसके सम्बन्ध में बहुश्रुत साधु चिंतनपूर्वक जो निर्णय दें, उसे मान्य किया जाए।’

आचार्य भिक्षु का यह निर्देश दिन के उजाले जितना साफ है। इस निर्देश के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को ध्यान में रखकर उत्तरवर्ती आचार्यों ने जितने परिवर्तन किए हैं, वे सब संघीय हितों को ध्यान में रखकर ही किए गए हैं और किए जाते रहेंगे। यह एक प्रवाह है। इस न बांधने की जरूरत है और न छिपाने की। ऐसी स्थिति में छलना एवं वंचना का आरोप कहा जाकर टिकता है? आरोप लगाने वाले स्वयं सोचें।

शुभ योग भी उपादेय है

पुण्य-पाप के बन्धन के संदर्भ में आचार्य भिक्षु के विचारों पर टिप्पणी करते हुए लिखा गया है—शुभ पुण्य का हेतु है और अशुभ पाप का हेतु है। शुभ-अशुभ से ऊपर उठकर जो शुद्ध परिणति है, वह चेतना का सहज स्वभाव है। शुभ और अशुभ—दोनों प्रवृत्तियां बन्धन की हेतु हैं, यह बात सही है, पर अशुभ, शुभ और शुद्ध इस प्रकार का कोई वर्गीकरण श्वेताम्बर आगमों में नहीं मिलता। दिगम्बर ग्रन्थों में तीन शब्दों का उल्लेख अवश्य हुआ है। वे शब्द हैं—अशुभयोग, शुभयोग और शुद्धोपयोग। शुद्धयोग जैसा कोई शब्द वहां भी नहीं। शुद्धोपयोग का अर्थ है—ज्ञाताद्रष्टा भाव। यह संवर की स्थिति है। इससे शुभ, अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का निरोध होता है।

प्रश्न यह है कि अशुभयोग से पाप का बन्धन होता है और शुभयोग से केवल पुण्य, क्या शुभयोग से निर्जरा नहीं होती है? ऐसी कौन-सी क्रिया है, जिससे केवल पुण्य का बन्धन होता है?

इस संदर्भ में आचार्य भिक्षु का मन्तव्य बिल्कुल स्पष्ट है। उन्होंने कहा—अशुभयोग—अधर्माचरण के द्वारा पाप का बन्ध होता है, वैसे ही शुभ योग—धर्माचरण के द्वारा पुण्य का बन्ध होता है। धर्म के बिना स्वतंत्र रूप में पुण्य का बंध उतना ही असंभव है, जितना धान्य के बिना भूसे का उत्पादन। धान्य बोया जाता है, वह उगता है और फसल पक जाती है। धान्य के साथ भूसा होता है, वह उसका आनुषंगिक लाभ है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति धर्माचरण करता है, शुभ योग की प्रवृत्ति करता है, उसमें पुण्य की उत्पत्ति को टालना सम्भव नहीं है।

तेरापंथ की मान्यता के अनुसार पुण्य और पाप दोनों बन्धन हैं, इसलिए त्याज्य हैं। पर पुण्य की करनी, जो शुभयोग के रूप में होती है, उससे होने वाली निर्जरा त्याज्य नहीं है। शुभयोग के साथ निर्जरा का योग होने से ही उसे उपादेय माना गया है। यदि शुभयोग को हेय ही माना जाए तो बारह प्रकार की तपस्या शुभयोग है या शुद्धोपयोग? शुद्धोपयोग केवल संवर या निवृत्ति रूप है। इस दृष्टि से तपस्या का समावेश शुभयोग में ही मानना उचित प्रतीत होता है।

निष्कर्ष की भाषा में इतना ही कहा जा सकता है कि अशुभयोग पाप-बन्धन का हेतु है। शुभयोग से मुख्यतः निर्जरा होती है और सहचारी रूप में पुण्य का बन्ध होता है। शुभयोग को एकान्ततः त्याज्य मानने का अर्थ है, निर्जरा धर्म को त्याज्य मानना। जबकि संवर-निर्जरा रूप धर्म को मोक्ष का मार्ग माना गया है।

विनम्र परामर्श

जिन लोगों की आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों में आस्था नहीं है, जिनका तेरापंथ धर्मसंघ से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे उसकी किसी भी प्रवृत्ति को लेकर अपना दिमाग भारी क्यों करते हैं? उनको बिना मांगे ही यह विनम्र परामर्श

दिया जाता है कि वे आचार्य भिक्षु के प्रति ऐसा व्यवहार कर आग से न खेलें, पहाड़ से न टकराएं। श्रद्धेय आचार्य भिक्षु जैसे महापुरुष शताब्दियों-सहस्राब्दियों में कभी-कभी होते हैं। उन जैसा आत्मार्थीपन, भगवान महावीर के प्रति समर्पण और आचारनिष्ठा उन्हीं में थी। सब प्रकार की सुविधाओं और प्रलोभनों को ताक पर रखकर जिन्होंने धर्मक्रान्ति की मशाल हाथ में लेकर साधना का पथ आलोकित किया, उनके सिद्धांतों की समीक्षा की जा सकती है, पर समीक्षात्मक नजरिए से निरपेक्ष होकर किसी भी तथ्य को अयथार्थ रूप में प्रस्तुत करना कभी वांछनीय नहीं हो सकता।

3. तेरापंथ : अनुशासनशैली-1

मानव जीवन में दो प्रकार की अवधारणाएं काम कर रही हैं। प्रथम अवधारणा मर्यादा, अनुशासन, नियम, व्यवस्था, कानून और कायदों को स्वीकार करती है। सामूहिक चेतना के क्रमिक व सुव्यवस्थित विकास के लिए इन सबको पूरा मूल्य देती है, किन्तु दूसरी अवधारणा के अनुसार हर व्यक्ति को स्वतंत्रता से जीने का अधिकार है। उसके व्यक्तिगत जीवन में किसी अन्य व्यक्ति या व्यवस्था का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

जैन दर्शन दो नयों की व्यवस्था स्वीकार करता है—निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय आत्मानुशासन के सूत्र को पकड़कर चलता है। इस नय के अभिमत से दूसरे का अनुशासन आरोपित अनुशासन होता है। आरोपण कल्पित होता है। उससे सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। समाज हो या परिवार, उसका वातावरण आत्मानुशासन की पौध को सब प्रकार से फलने-फूलने का अवसर दे, विकास की सही प्रक्रिया यही है।

व्यवहारनय व्यवस्थागत अनुशासन को महत्त्व देता है। उसके अनुसार कोई व्यक्ति कितना ही आत्मानुशासित और शक्तिशाली हो, समूह के साथ तालमेल बिठाए बिना वह सफल जीवन नहीं जी सकता। तालमेल बिठाने के लिए सापेक्ष जीवन जीना जरूरी है। सापेक्षता के कुछ नियम हैं। उनका अतिक्रमण करने वाला समूह चेतना के विकास में बाधा उपस्थित कर देता है। व्यवस्था के अभाव में कदम-कदम पर कठिनाइयों का सामना करना होता है। इसलिए मर्यादा, अनुशासन या व्यवस्था की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

निश्चयनय और अनुशासन

निश्चयनय नियम या व्यवस्था की चर्चा नहीं करता। वह कहता है—पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवंदुक्खापमोक्खसि—दुःख-मुक्ति

का एकमात्र उपाय है, आत्म-निग्रह। जिस व्यक्ति का अपनी आत्मा पर नियंत्रण नहीं है, वह किसी के अनुशासन में नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में—अनुशासन में रहना और रखना केवल उपचार है। वास्तविकता है अपने भीतर से अनुशासन उत्पन्न करना। यह काम सरल नहीं है। जैन आगम आत्मानुशासन पर बल देते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है—

**अप्या चेव दमेयव्वो, अप्या हु खलु दुद्धमो।
अप्या दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य।**

आत्मा का ही दमन—शमन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। जो अपनी आत्मा का दमन करने में सफल हो जाता है, वही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

आत्म-दमन का अर्थ है—पांचों इन्द्रियों और मन को उपशान्त करना। दण्डनीति में अपराधी का बलपूर्वक दमन किया जाता है। यह आत्मानुशासन नहीं हो सकता। अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति पूरी स्वतंत्रता के साथ अहिंसक विधि के द्वारा अपनी इन्द्रियों और मन की चंचल प्रवृत्ति का नियंत्रण करता है। यही आत्म-दमन है।

अध्यात्म या निश्चयनय की दृष्टि में वध और बंधन के द्वारा होने वाले दमन को अच्छा नहीं माना जाता। इसलिए अध्यात्म का साधक सोचता है—

**वरं मे अप्या दंतो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मंतो, बंधणेहि वहेहि य।**

अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ। दूसरे लोग बंधन और वध के द्वारा मेरा दमन करें, यह अच्छा नहीं है।

व्यवहारनय और अनुशासन

व्यवहारनय उपचार को अस्वीकार नहीं करता। गुरु-शिष्य सम्बन्ध की पूरी परम्परा व्यवहार पर आधारित है। शास्त्रों में विनीत और अविनीत की परिभाषाओं का निर्धारण भी व्यवहारनय के आधार पर किया गया है। विनीत कौन होता है? उत्तराध्ययन में विनीत की परिभाषा बताई गई है—

आणानिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारे। इंगियगारसंपन्ने, से विणीए ति वुच्चई॥

जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित और आकार को जानता है, वह विनीत कहलाता है। इससे विपरीत आचरण करने वाला अविनीत कहलाता है।

जो शिष्य अपनी सत्ता को गुरु के चरणों में विलीन कर देता है, वह गुरु का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है। जिस शिष्य में थोड़ा-सा भी अहं जागृत रहता है, वह गुरु के अनुग्रह को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता। लकड़ी जब तक भीगी रहती है, वह आग में जलकर भी धुंआ देती है। गुरु के पास ज्ञान की ज्योति है, पर अहंकारी शिष्य कभी उस ज्योति को आत्मसात् नहीं कर सकता।

बेल को ऊपर चढ़ने के लिए वृक्ष के सहारे की अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार शिष्य को विकास की ऊंचाइयों तक पहुंचने के लिए गुरु के अनुशासन की अपेक्षा रहती है। भारतीय संस्कृति में गुरु-धारणा, दीक्षा या योग्य गुरु के वरण का यही उद्देश्य मान्य किया गया है। गुरु एक गरिमापूर्ण व्यक्ति होता है। उनके जीवन में त्याग, तपस्या और साधना का इतना तेज अपेक्षित है जो शिष्य के लिए आदर्श बन सके। गुरु का काम शिष्य में छिपी हुई अहंता को जगाना है। इसके लिए उन्हें वात्सल्य और अनुशासन—दोनों उपाय काम में लेने होते हैं। वत्सलभाव से शिष्य का अहंकार टूट जाए तो कठोर अनुशासन की जरूरत नहीं रहती। जहां वत्सलता कार्यकारी न हो, वहां अनुशासन का सुदर्शन चक्र हाथ में लेना पड़ता है। चक्र का प्रत्येक आघात अहंकार पर होता है, पर अहंकार का विलय तभी संभव है, जब दोनों ओर से तीव्र प्रयत्न हो। अन्यथा कभी शिष्य अधीर होकर अपना रास्ता बदल लेता है या गुरु ही उसकी उपेक्षा कर देते हैं। गुरु का विशेष अनुग्रह शिष्य में अनन्त संभावनाओं के द्वार खोल सकता है।

अनुशासन : एक शाश्वत सत्य

जैन परम्परा में साधना की दो शैलियां प्रचलित रही हैं—व्यक्तिगत और संघबद्ध। धर्म की साधना का मूल तत्त्व आत्मानुशासन ही है, पर

साधना संघबद्ध हो तो उसमें आत्मानुशासन के साथ संघीय अनुशासन को भी आवश्यक माना गया है। भगवान महावीर तीर्थंकर थे। उन्होंने चतुर्विध श्रमण संघ की स्थापना की। उनकी अनुशासन-शैली अपने ढंग की थी। तीर्थंकर बने-बनाए रास्ते पर नहीं चलते। वे स्वयं पथ का निर्माण करते हैं। भगवान महावीर की धर्मशासना में 14000 साधु और 36000 साध्वियां थीं। सब साधु-साध्वियां भगवान के धर्मशासन में थे। इतने विशाल धर्मसंघ की व्यवस्थाएं भी व्यापक थीं। उस समय आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, स्थविर, प्रवर्तक और प्रवर्तनी—ये सात पद निर्धारित थे। व्यवस्था की सुविधा के लिए उक्त प्रत्येक पद पर अनेक व्यक्तियों की नियुक्ति होती थी।

भगवान महावीर का परिनिर्वाण होने के बाद उनका शासन सूत्र आर्य सुधर्मा ने संभाला। सामयिक अपेक्षाओं के अनुसार संघीय व्यवस्था में परिवर्तन भी होते रहे, पर एक संस्कार-सूत्र आगे से आगे सरकता रहा—**आणाजुत्तो संघो सेसो पुण अट्टिसंघाओ**—संघ वह है, जहां आज्ञा प्रमाण होती है। जहां आज्ञा का महत्त्व नहीं है, वह केवल हड्डियों का ढेर है। जहां आज्ञा, अनुशासन और मर्यादा नहीं, वह संघ नहीं हो सकता।

संघ की सुव्यवस्था के लिए आज्ञा, अनुशासन, मर्यादा एवं व्यवस्था का स्वीकार सिद्धान्तः सभी को मान्य रहा है। उत्तरवर्ती परंपरा में अनुशासन एवं व्यवस्था के पक्ष को कहीं कसा गया और कहीं शिथिल किया गया। उसके आधार पर धर्मसंघों के स्वरूप में एकरूपता नहीं रह पाई। अनेक संघ और अनेक आचार्य—यह पद्धति भी नई नहीं है। सब संघों के एकीकरण की बात कभी सोची गई हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। यह अनपेक्षित और असंभव भी है, किन्तु हर संघ अनुशासित एवं व्यवस्थित रहे, इस अपेक्षा को तीव्रता से अनुभव करने की जरूरत है। अनुशासन और व्यवस्था मात्र सामयिक सत्य नहीं है। हर युग में हर व्यक्ति के लिए इनका उपयोग है। सामूहिक जीवन में जहां कहीं इनकी उपेक्षा हुई है, वहां बिखराव हुआ है और विकास में अवरोध आए हैं।

आन्तरिक अनुशासन

जो व्यक्ति मंजिल तक पहुंच जाता है, उसके लिए पथ के नियम कृतार्थ हो जाते हैं। किन्तु जो रास्ते पर चल रहा है, वह यातायात के नियमों की अवेहलना नहीं कर सकता। इस बात को जानते हुए भी जो व्यक्ति असावधानी बरतता है, वह किसी भी क्षण दुर्घटना का शिकार हो सकता है।

कोई व्यक्ति कितना ही महान क्यों न हो, जीवन के नियमों का अतिक्रमण नहीं कर सकता। महत्ता का जितना विस्तार होता है, उसकी जागरूकता उतनी ही बढ़ जाती है। सतह पर तैरने वाले तल में छिपे रत्नों से परिचित नहीं हो पाते। इस संसार में जितने महान व्यक्ति हुए हैं, सबने अनुशासन की दुर्गम घाटियों को पार किया है। कुछ लोगों का चिन्तन है कि एक ऊंचाई तक पहुंचने के बाद व्यक्ति मात्र अनुशास्ता रह जाता है। उस पर किसी का अनुशासन नहीं होता। सचाई यह है कि **कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के**—कुशल व्यक्ति बाह्य अनुशासन से बद्ध नहीं होता और आन्तरिक अनुशासन से मुक्त नहीं होता। साधना के क्षेत्र में आत्मविकास की सातवीं सोपान पर आरूढ़ होने के बाद बाह्य अनुशासन अकिंचित्कर बन जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वहां अनुशासन छूट जाता है। अनुशासन वहां भी रहता है, पर वह स्वतः स्फूर्त होता है, भीतर से उत्पन्न होता है। स्थूल दृष्टि से देखने वाले को वहां मुक्तता का आभास हो सकता है, पर आन्तरिक अनुशासन का कसाव इतना बढ़ जाता है कि छोटी से छोटी प्रवृत्ति भी पूरी तरह से अनुशासित होती है।

अनुशासन कब तक ?

साधु-जीवन का उद्देश्य है मोक्ष। मोक्ष की दिशा में ले चलने वाली जीवनशैली बन्धनों से जकड़ी हुई होती है तो साधक का जिज्ञासु मन उद्वेलित हो जाता है। वह अपनी जिज्ञासा के पंख खोलता है—‘प्रभो! हम साधु बने हैं। हमारे सामने लक्ष्य है मुक्ति। अनन्त काल से बन्धन में छटपटाते प्राणों के बन्धन काटने के लिए हमने आपकी शरण स्वीकार की, पर साधु-जीवन में तो बन्धनों का जाल बिछा हुआ है। एक बन्धन से मुक्त होने के लिए इतने बन्धनों का स्वीकार हमारे मन में विस्मय उत्पन्न कर रहा है।’

आचार्य ने शिष्य की मनोदशा को पढ़ा। उन्होंने शिष्य पर वत्सलभाव की वर्षा करते हुए कहा—‘वत्स! तुम्हारे मन में मुमुक्षा—मुक्त होने की इच्छा है, इस बात को मैं समझ रहा हूँ। क्या तुम अपनी मुमुक्षा को खोलकर दिखा सकते हो? तुम्हें इस जीवन में कहां-कहां बन्धन का अनुभव हुआ, क्या तुम बता सकोगे?’

शिष्य मुक्ति के लिए तड़प रहा था। आचार्य की थोड़ी-सी अनुकूलता ने उसको मुखर बना दिया। वह बोला—‘भन्ते! साधु-जीवन में कितना अनुशासन है। कितनी व्यवस्थाएं हैं। हमारा मन पंखी की तरह आकाश में स्वतन्त्र विहार करना चाहता है। क्या आपकी दृष्टि में ये सब बन्धन नहीं हैं?’

आचार्य ने शिष्य के सिर पर अपना वरदहस्त रखा। उसे अपने निकट बिठाया और कहा—‘वत्स! साधु बनने वाला सामुदायिक जीवन स्वीकार करता है। जहां समुदाय है, वहां व्यवस्था और अनुशासन को दरकिनार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके बिना सामूहिक जीवन सफल नहीं होता। इनको तुम बन्धन मानते हो, मान सकते हो। ये बन्धन हैं, पर उन लोगों के लिए बन्धन हैं, जो दूसरों के द्वारा अनुशासित हैं। जो साधक स्वतःशासित हैं, वे संघीय अनुशासन और व्यवस्थाओं को आलम्बन रूप से स्वीकार करते हैं।

आचार्य द्वारा प्राप्त प्रतिबोध से शिष्य की चेतना को प्रकाश मिला, किन्तु वह पूरी तरह से समाहित नहीं हुआ। उसने देखा कि अभी गुरुदेव के पास समय है और वे उसके प्रश्नों में रस ले रहे हैं। इसलिए मन के प्रत्येक कोने को टटोल कर पूछने की बात पूछ लेनी चाहिए। वह कुछ सोचकर बोला—‘भन्ते! आपके कथन पर मुझे पूरा विश्वास है। फिर भी मन समाहित नहीं हुआ है। मैं जानना चाहता हूँ कि जिस समुदाय में सब साधु आत्मानुशासित हों, वहां अनुशासन की अनिवार्यता क्यों है?’

आचार्य अपने शिष्य की सरलता से प्रसन्न थे। उन्होंने प्रगाढ़ आत्मीय भाव के साथ कहा—‘वत्स! मैं स्वीकार करता हूँ कि सब साधुओं का लक्ष्य आत्मानुशासन है, पर मैं यह भी जानता हूँ कि आत्मानुशासन एक क्षण में सिद्ध होने वाला तत्त्व नहीं है। इसके लिए दीर्घकाल तक साधना जरूरी है।

आचार्य सत्यद्रष्टा थे। वे व्यक्ति, समय, क्षेत्र और परिस्थितियों को समझते थे। उन्होंने एक उदाहरण देते हुए कहा—‘वत्स! जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती है, कपड़े सघन होते जाते हैं। जब सर्दी कम होती है तो वस्त्र भी पतले हो जाते हैं। इसी प्रकार मोह की सघनता में अनुशासन प्रबल होता है और जैसे-जैसे मोह क्षीण होता है, अनुशासन कम होता जाता है। जिस दिन मोह सर्वथा क्षीण हो जाएगा, आत्मानुशासन समग्र रूप से जाग जाएगा, उस दिन गुरु के अनुशासन की कोई अपेक्षा नहीं रहेगी।’

परिवार, समाज, संस्थान या धर्मसंघ, कोई भी संगठन हो, अनुशासन के बिना किसी का काम नहीं चलता। सामूहिक जीवन, सबकी अपनी आकांक्षाएं और अपने हित, स्वभाव और रुचि का भेद, शारीरिक क्षमता, मनोबल और चिन्तन के धरातल का अन्तर। ऐसी स्थिति में अनुशासन पर बल देते हुए आचार्य ने कहा—‘वत्स! सूर्योदय होने के बाद दीपक के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु सूर्य अस्त हो जाए, रात घिर आए, अन्धकार गहरा जाए, उस समय भी दीपक जलाने की जरूरत नहीं है, यह बात बुद्धिगम्य नहीं हो पाती। इसी प्रकार आत्मानुशासन के पुष्ट होने पर बाह्य अनुशासन को कृतार्थ माना जा सकता है, किन्तु आत्मानुशासन के अभाव में भी गुरु व संघ के अनुशासन को स्वीकार करने की बात सम्मत नहीं है।’

संघमुक्त साधक की अर्हता

जैन आगमों में संघ के अनुशासन से मुक्त होकर साधना करने का प्रावधान है, पर उसके लिए उतने ही मजबूत धरातल की अपेक्षा है। सामान्यतः मुनि के लिए संघबद्ध साधना का विधान है। तीन कारणों से उसे संघमुक्त होकर साधना करने की आज्ञा दी गई है—

- एकाकी-विहार-प्रतिमा स्वीकार करने पर।
- जिनकल्प-प्रतिमा स्वीकार करने पर।
- मासिक आदि भिक्षु-प्रतिमाएं स्वीकार करने पर।

कुछ और भी ऐसे कारण हैं, जिनकी उपस्थिति होने पर संघीय अनुशासन से मुक्त होकर साधना की जा सकती है, किन्तु संघमुक्त रहकर साधना करने के लिए कम से कम आठ प्रकार की अर्हताओं का अर्जन आवश्यक माना गया है। 'ठाणं' सूत्र में उनकी चर्चा करते हुए बताया गया है—

1. **श्रद्धावान पुरुष**—अपने अनुष्ठानों के प्रति पूर्ण आस्थावान। ऐसे व्यक्ति का सम्यक्त्व और चारित्र मेरु की भांति अडोल होता है।
2. **सत्यवादी पुरुष**—ऐसा व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञा के पालन में निडर होता है, सत्याग्रही होता है।
3. **मेधावी पुरुष**—श्रुतग्रहण की मेधा से संपन्न।
4. **बहुश्रुत पुरुष**—जघन्यतः नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु को तथा उत्कृष्टतः असम्पूर्ण दस पूर्वों को जानने वाला।
5. **शक्तिमान पुरुष**—तप, सत्व, सूत्र, एकत्व और बल—इन पांच तुलाओं से अपने आपको तोलने वाला।
6. **अल्पाधिकरण पुरुष**—उपशान्त कलह की उदीरणा तथा नए कलहों का उद्भावन न करने वाला।
7. **धृतिमान पुरुष**—अरति और रति में समभाव रखने वाला तथा अनुलोम और प्रतिलोम उपसर्गों को सहने में समर्थ।
8. **वीर्यसम्पन्न पुरुष**—स्वीकृत साधना में सतत उत्साह रखने वाला।

जिस व्यक्ति की आस्था पुष्ट न हो, जिसकी मेधा जागृत न हो, जिसने शास्त्रों का गंभीर अध्ययन न किया हो, जो शक्तिसम्पन्न न हो, जिसकी वृत्ति शान्त न हो, जिसका धृतिबल मजबूत न हो और जो साधना के क्षेत्र में निरुत्साही हो, वह व्यक्ति अकेला होकर पग-पग पर अवसाद को प्राप्त करता है। उसके सामने न कोई पथदर्शक होता है, न संभालने वाला होता है और न सारणा-वारणा, प्रेरणा-स्मारणा एवं निषेध करने वाला होता है। इसी दृष्टि से आचार्य संघदासगणी ने 'बृहत्कल्प भाष्य' में लिखा है—

**अपुव्ववस्स अगहणं, न य संकिय पुच्छणा न सारणा य।
गुणयंते अ अदट्ठं, सीदइ एगस्स उच्छाहो॥**

अकेला रहने वाला साधक ज्ञान, दर्शन और चारित्र के क्षेत्र में कुछ भी नया ग्रहण नहीं कर सकता। जहां कहीं उसके मन में सन्देह पैदा होता है, उसे कोई समाधान देने वाला नहीं मिलता। वह अपने जीवन में कितने ही श्रेष्ठ काम करे, उसे कोई प्रोत्साहन देने वाला नहीं होता। उसके सामने उपयुक्त वातावरण नहीं रहता। वह किसी को पढ़ते, लिखते, स्मरण करते और नए-नए काम करते नहीं देखता है। एकाकीपन के कारण उसका उत्साह क्षीण हो जाता है।

सारणा-वारणा विकास का एक बड़ा आधार है। जिस संघ में सारणा-वारणा नहीं होती, वह संघ आगे नहीं बढ़ सकता। आचार्यश्री तुलसी ने इस सत्य का अनुभव किया। अपने अनुभव को अभिव्यक्ति देते हुए उन्होंने लिखा—

**सारणा-वारणा यत्र, सर्वदा समयोचिता।
सापेक्षत्वेन जायेत, स संघः संघ उच्यते॥**

जिस संघ में सापेक्ष रूप में समय के अनुसार उचित सारणा- वारणा होती रहती है, वही संघ सही अर्थ में संघ है।

साधकों की कई श्रेणियां होती हैं। विशिष्ट श्रेणियों में पहुंचने के बाद मार्गदर्शन, सारणा, वारणा, प्रतिचालना आदि कृतार्थ हो जाते हैं, किन्तु प्राथमिक श्रेणियों में ये सब न हों तो प्रगति के दरवाजे बन्द ही रहते हैं। आचार्य संघदासगणी ने सारणा-वारणा न करने वाले संघ को छोड़ने तक का निर्देश दिया है—

**जहिं नत्थि सारणा वारणा य, पडिचोयणा य गच्छम्मि।
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो॥**

जिस संघ में सारणा, वारणा और प्रतिचालना नहीं है, वह गच्छ-समुदाय होकर भी गच्छ नहीं है। संयम की साधना करने वाले पुरुषों के लिए ऐसा गच्छ छोड़ने योग्य है।

संघ का प्राणतत्त्व

संघ और अनुशासन का संबंध शरीर और घ्राण का संबंध है। शरीर बहुत सुन्दर है, सजा हुआ है, पर प्राणविहीन है। उस शरीर का क्या मूल्य होगा? संघ बहुत बड़ा है। त्यागी, तपस्वी, स्वाध्यायी, ध्यानी, सेवाभावी, प्रवचनकार, संगीतकार, कलाकार आदि सभी प्रकार के साधक वहां साधना करते हैं, किन्तु अनुशासन नहीं है तो वह संघ चल नहीं पाएगा। चलेगा तो व्यवस्थित रूप से नहीं चलेगा, क्योंकि अनुशासन के अभाव में पदलिप्सा, यशोलिप्सा, सुविधावाद, शिष्यलोलुपता और बढ़ते हुए शिथिलाचार पर नियंत्रण कौन करेगा? संघ छोटा हो या बड़ा, उसका प्राणतत्त्व अनुशासन है।

प्रश्न है—संघ में अनुशासन कैसे आए? अनुशासन द्विष्ट होता है। उसका सम्बन्ध कम से कम दो व्यक्तियों के साथ होता है। प्रथम व्यक्ति है अनुशास्ता—अनुशासन करने वाला। दूसरा व्यक्ति है अनुशास्य—जिस व्यक्ति पर अनुशासन करना है। अनुशास्ता सब नहीं होते, अनुशास्य सब हो सकते हैं। अनुशास्ता भी अनुशास्य हो कर ही अपने काम में सफल होता है। यह सिद्धान्त मान्य भी है—**सीसस्स हंति सीसा, न हंति सीसा असीसस्स**—जो व्यक्ति स्वयं शिष्य रह चुका है, उसी के शिष्य होते हैं। जिसने अपने जीवन में कभी शिष्यता का अनुभव नहीं किया, उसके शिष्य नहीं हो सकते।

मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि सम्बन्धों का रेशमी धागा संवेदना के काष्ठचक्र पर ही लपेटा जा सकता है। बहू की भूमिका से गुजरने वाली सास ही बहू के साथ समायोजित हो पाती है। जिसके पास बहू जैसा मन नहीं है या वैसी मानसिकता का जिसे अनुभव नहीं है, वह उसके प्रति मानवीय दृष्टिकोण का विकास नहीं कर सकती।

मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र की एक शाखा है। इसके लिए अंग्रेजी भाषा में 'साइकॉलोजी' शब्द का प्रयोग होता है। इसमें दो शब्दों का योग है—साइको और लॉजी। साइको शब्द का प्रयोग आत्मा, चेतना और मन के लिए होता है। लॉजी का अर्थ है विज्ञान और अध्ययन। सामूहिक जीवन का सम्बन्ध मन से भी आगे व्यवहार के साथ है। व्यवहार को समझने के तीन बिन्दु

हैं—विचार, भाव और क्रिया। जब तक एक दूसरे के विचारों, भावों और क्रियाओं को सही ढंग से समझा नहीं जाता, जीवन की दिशा प्रशस्त नहीं हो पाती।

मनोविज्ञान के तीन लक्ष्य हैं—व्यवहार को समझना, व्यवहार की व्याख्या करना और व्यक्ति किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार कर सकता है, इस पूर्वानुमान के आधार पर व्यवहार का नियंत्रण करना। मानस-चिकित्सा और व्यवहार-चिकित्सा के आधार पर व्यक्ति का समूह में समायोजन किया जा सकता है। समायोजन का दायित्व सबका होता है, पर इस क्षेत्र में विशेष जिम्मेवारी नेतृत्व की है। एक समूह के पारस्परिक व्यवहारों का अध्ययन करके नेता के गुण-दोषों की समीक्षा भी की जा सकती है। समूह को नई दिशा देना, विषम परिस्थितियों में भी उसे टूटने न देना और व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना—ये सभी काम नेता के होते हैं।

नेतृत्व के दो रूप हैं—डेमोक्रेटिक और ओटोक्रेटिक। डेमोक्रेटिक नेतृत्व लोकतांत्रिक होता है। उसमें दूसरे के सुझावों का समादर किया जाता है और सबको साथ लेकर चलने का मनोभाव रहता है। ओटोक्रेटिक नेतृत्व अधिनायकवादी दृष्टिकोण के आधार पर चलता है। धार्मिक क्षेत्र में नेतृत्व की अपनी परम्परा है। आज यह क्षेत्र भी विकृतियों से बच नहीं पाया है। फिर भी यह निश्चित है कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध की, सांस्कृतिक चेतना को जगाए रखने के लिए गुरु की गरिमा का संरक्षण आवश्यक है।

संघ और आचार्य

जैनशासन में धर्मसंघों की लम्बी परंपरा है। संघीय दायित्व निभाने की क्षमता का अर्जन करने के लिए साधु जीवन को कम से कम आठ वर्षों की साधना और अनुभवों का होना आवश्यक है। साठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल, उपग्रहकुशल, अक्षत आचार, अशबल आचार, अभिन्न आचार और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत हो, अनेक आगमों का ज्ञाता हो, कम से कम स्थानांग और समवायांग का ज्ञाता

हो, उसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक का पद दिया जा सकता है।

संघ चार प्रकार का होता है—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका। इस चतुर्वर्ण धर्मसंघ को ही तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ अर्थात् संघ की स्थापना करने के बाद ही अर्हत तीर्थकर होते हैं।

जिनकल्प की साधना बहुत कठोर होती है, किन्तु परम्परा कहती है कि जिनकल्प की साधना करने वाले भी पुनः संघ में प्रविष्ट होकर ही अपने साध्य को सिद्ध कर पाते हैं। धर्मसंघ साधकों के लिए शरण है, त्राण है, गति है, प्रतिष्ठा है और साधना का आधार है। 'व्यवहार भाष्य' में संघ का वैशिष्ट्य बताते हुए लिखा है—

**संघो गुणसंघाओ, संघो य विमोयओ य कम्माणं।
दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो॥**

गुणों का संघात संघ है। वह कर्मों का विमोचक है। वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र को संहत—समुदित करता है।

**आसासो वीसासो, सीयघरसमो य होइ मा भाहि।
अम्मापितिसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं॥**

संघ आश्वासन है, विश्वास है। शीतगृह—वातानुकूलित घर के समान है, यह माता-पिता के समान पालन और संरक्षण करने वाला है और सब प्राणियों के लिए शरण है। ऐसे संघ से भय किस बात का ?

गुरु बनाते हैं चेतना को अन्तर्मुखी

साधना का पथ स्वीकार करने के बाद परिस्थिति विशेष से बाधित होकर साधक का मन दुर्बल हो जाए तो उसकी संभाल संघ में ही हो सकती है। अकेले साधक को कौन संभाले ? कौन प्रेरित करे और कौन पुनः संयम में स्थापित करे ?

सम्राट श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार जिस दिन मुनि बना, उसी रात्रि में उसका मन व्यथित हो गया। उसे रात के समय सोने के लिए जो स्थान मिला, वह दरवाजे के पास था। रातभर साधुओं के गमनागमन के कारण वह

सो नहीं सका। संकल्प-विकल्पों से आहत होकर सूर्योदय होते ही भगवान महावीर से पूछकर घर लौटने का निर्णय ले लिया।

रात ढली। पौ फटी। सूर्योदय हुआ। मुनि मेघ भगवान महावीर के चरणों में उपस्थित हुआ। भगवान को विधिवत वंदन कर वह उनके निकट बैठा। भगवान ने कहा—‘मेघ! तुमने अपने पिछले जन्म में हाथी के भव में कितना कष्ट सहा! आज तुम थोड़े से कष्ट से घबरा क्यों गए?’

भगवान उपायज्ञ थे। उन्होंने उपाय का प्रयोग किया। शैक्ष मुनि मेघ को उसका अतीत प्रत्यक्ष करा दिया। मुनि मेघ के मन की दुर्बलता दूर हो गई। वह पुनः संयम में स्थिर हो गया। मुनि को समय पर अपने धर्माचार्य का उचित मार्गदर्शन नहीं मिलता तो वह संयम-रत्न की सुरक्षा नहीं कर पाता। यह घटना धर्मसंघ और धर्मगुरु की महत्ता को उजागर करने वाली है। धर्मसंघों के इतिहास में ऐसी घटनाओं की सूची बहुत लम्बी है। गुरु के सान्निध्य में साधना करने वाले शिष्य के लिए सबसे बड़ी सुविधा यही है कि उसकी बहिर्मुख होती हुई चेतना को गुरु अन्तर्मुखी बना देते हैं।

गुरु और शिष्य

सूफी फकीर बायजीद अपने गुरु के पास गया। गुरु ने उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। बायजीद प्रतिदिन गुरु के चरणों में उपस्थित होता। गुरु ने कभी कुछ नहीं कहा। पूरा एक वर्ष बीत गया। गुरु ने मौन खोला—‘बायजीद! कैसे आए?’ बड़ा विचित्र था बायजीद भी। वह बोला—‘आप जानते हैं।’ गुरु फिर मौन हो गए। एक वर्ष और बीता। गुरु ने पूछा—‘बायजीद! कुछ करना चाहते हो?’ बायजीद बोला—‘मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब आप कोई निर्देश देंगे, काम करना शुरू कर दूंगा।’ गुरु ने इससे आगे कुछ नहीं कहा। एक वर्ष और बीतने के बाद गुरु ने बायजीद के कंधे पर हाथ रखा, आंखों में गहराई से झांका और कहा—‘जाओ बायजीद! तुम्हें जहां पहुंचना था, तुम पहुंच गए। अब कुछ भी करना शेष नहीं बचा है।’

देखने वालों को आश्चर्य हुआ। बायजीद जैसे आया, वैसे ही चला गया! उसने क्या किया? क्या पाया? कभी खुलकर गुरु से बात तक नहीं

की। न शिक्षा और न अभ्यास। बिना कुछ किए वह अपने लक्ष्य तक कैसे पहुंचा? लोगों की आंखों में प्रश्न थे। गुरु ने प्रश्नों को समाहित करते हुए कहा—बायजीद मेरे पास आया। पूरी तरह से खाली होकर आया। पूर्वाग्रहों और धारणाओं से मुक्त होकर आया। यहां रहा। कुछ पाने को आकांक्षा से मुक्त होकर रहा। गुरु उसकी ओर देखें, उससे बात करें, उसे प्रतिबोध दें—यह आकांक्षा भी नहीं। एक वर्ष के बाद पूछे गए दो शब्दों— कैसे आए? ने इसको कृतार्थ कर दिया। यहां आकर रहना और कुछ करने की आतुरता से उबरकर रहना, सामान्य बात नहीं है। इसने अपना सब कुछ समर्पित कर दिया। जब इसके कंधे पर हाथ रख दिया तो इसे सब कुछ मिल गया। मैं कुछ कर सकता हूँ—यह अहंकार छूट गया। मेरा कोई है—यह ममकार छूट गया। अहंकार और ममकार—ये दो बड़ी बाधाएं हैं साधना के क्षेत्र में। इन बाधाओं के हटते ही झोली उपलब्धियों से भर जाती है। पर कहां मिलते हैं ऐसे शिष्य, जो पूर्ण रूप से समर्पित होकर जीना जानते हैं? कहां मिलते हैं ऐसे गुरु, जो आंखों में झांककर ही पूरे जीवन को आलोक से भर देते हैं?

गुरु के पास ज्ञान होता है, अनुभव होता है, शिष्य के व्यक्तित्व को रूपान्तरित करने की क्षमता होती है, पर उसका लाभ बायजीद जैसा समर्पित शिष्य ही उठा पाता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में बताया गया है—

**अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मन्नए पण्णो, वेसं होइ असाहुणो॥**

मृदु या कठोर वचनों से किया जाने वाला अनुशासन हितसाधन का उपाय और दुष्कृत का निवारक होता है। प्रज्ञावान मुनि उसमें अपना हित देखता है। असाधु के लिए वही द्वेष का हेतु बन जाता है।

विनीत शिष्य गुरु के किसी भी व्यवहार से संदिग्ध या असंतुष्ट नहीं होता। संघीय जीवन में उसे निरन्तर ऐसा मार्गदर्शन मिलता रहता है—

**जं मे बुद्धाणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे॥**

आचार्य मुझ पर कोमल या कठोर वचनों से जो अनुशासन करते हैं, वह मेरे लाभ के लिए है—ऐसा सोचकर शिष्य जागरूकता पूर्वक उन वचनों को स्वीकार करे।

अनुशासन में निखरता है व्यक्तित्व

वर्तमान युग में स्वतंत्र मनोवृत्ति को महत्त्व देने वाले व्यक्ति अनुशासन को विकास में बाधक मानते हैं। कुछ दशक पूर्व विश्व में हिप्पीज और बीटल्स की एक संस्कृति अस्तित्व में आई थी। इस संस्कृति को प्रोत्साहन देने वाले युवक-युवतियों ने पारिवारिक एवं सामाजिक मर्यादाओं, परम्पराओं और वर्जनाओं को तोड़कर मुक्त जीवन जीने का संकल्प स्वीकार किया। कुछ समय तक यह चर्चा सुर्खियों में रही। धीरे-धीरे इसके स्वर मन्द हो गए। क्योंकि सामूहिक जीवन मर्यादा और अनुशासन के बिना चल ही नहीं सकता। समूह छोटा हो या बड़ा, व्यवस्था बनाए रखने के लिए कुछ नियमों का पालन तो करना ही होगा। अन्यथा समाज में अराजकता की स्थिति पैदा हो सकती है। धार्मिक क्षेत्र में तो अनुशासन की अतिरिक्त महिमा की गई है। मुद्दु अनुशासन की तो बात ही क्या, कठोर अनुशासन को सहन किए बिना व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। इस तथ्य को अभिव्यक्ति देते हुए कहा गया है—

जिन मणिरत्नों को तराशने के लिए 'शाण' पर नहीं चढ़ाया जाता, उन्हें राजा-महाराजाओं के मुकुट में नहीं जड़ा जाता। इसी प्रकार जो शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन से संभूत तिरस्कार या प्रताड़ना को सहन नहीं कर पाता, वह कहीं महत्त्व नहीं पा सकता।

आवश्यक है चारित्रमोह का क्षयोपशम

अनुशासन से व्यक्तित्व में निखार आता है, जीवन होता है और वृत्तियों का परिष्कार होता है। सिद्धान्ततः इस बात को अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं, पर आचरण की धरती पर उनके पांव फिसल जाते हैं। दूसरों को उपदेश देते समय व्यक्ति इन फार्मूलों को काम में लेते हैं, किन्तु स्वयं के जीवन पर उन्हें लागू करने में कठिनाई होती है। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न के सन्दर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञ का अभिमत यह है—किसी भी तत्त्व का ज्ञान

होता है ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से, पर जब तक मोहनीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता, वह तत्त्व आचरणगत नहीं हो सकता। मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह के क्षयोपशम से व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् बनता है। वह अपनी दुर्बलता को सही परिप्रेक्ष्य में समझने लगता है। दुर्बलता से छुटकारा पाने के लिए आचरण को उन्नत बनाना होगा। आचरण तब तक नहीं बदलेगा, जब तक चारित्रमोह का क्षयोपशम नहीं होगा।

कुछ लोग चालू भाषा में कह देते हैं—उपदेश सुनते-सुनते बीस वर्ष हो गए, कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। ऐसी ही एक समस्या लेकर कोई शिष्य गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ। उसकी साधना का वह दसवां वर्ष चल रहा था। दस वर्षों में वह जैसा बनना चाहता था, नहीं बन सका। मन में निराशा के भाव आए। साधना से मन ऊबने लगा। उसने अपनी समस्या इस भाषा में प्रस्तुत की—‘गुरुदेव! बहुत बड़ी महत्वाकांक्षा लेकर आश्रम में आया था। क्रोध, अभिमान आदि निषेधात्मक भावों पर विजय प्राप्त कर मैं असाधारण व्यक्तित्व का निर्माण करूंगा, यह मेरा एक सपना था। पर दस वर्षों की कठोर साधना से भी मेरे जीवन में विशेष बदलाव नहीं आ सका। क्या मैं यह मान लूं कि स्वभाव बदला नहीं जा सकता?’

उस दिन गुरु मौन रहे। शिष्य ने सोचा—आज समय की अनुकूलता नहीं है, फिर कभी पूछूंगा। गुरु ने दूसरे दिन शिष्य को निर्देश दिया—‘एक पिल्ला पकड़कर लाओ। उसकी अच्छे ढंग से देखभाल करो।’ शिष्य आश्रम से बाहर गया। एक पिल्ले को पकड़कर ले आया। वह उसे खाना देता, पानी पिलाता, सहलाता और दिनरात अपने साथ रखता। पांच-चार दिनों में वे दोनों अच्छे मित्र बन गए। एक सप्ताह के बाद गुरु ने शिष्य को आदेश दिया—‘पिल्ले को आश्रम से बाहर छोड़ दो।’ शिष्य उसे छोड़कर आया। वह अपने कुटीर में पहुंचा, उससे पहले ही पिल्ला वापस आ गया। शिष्य तीन-चार बार पिल्ले को साथ-साथ लेकर आश्रम से बाहर गया, किन्तु वह उसे छोड़ने में सफल नहीं हुआ। आखिर वह असफल होकर गुरु के पास पहुंचा।

गुरु ने शिष्य को मधुर शब्दों में सम्बोधित करते हुए कहा—‘वत्स! सात दिनों से पाले हुए पिल्ले को इतना प्रयत्न करके भी तुम नहीं छोड़ सके। तुमने संस्कारों को कितने जन्मों से पाल रखा है। वे इस प्रकार आत्मसात हो गए हैं कि वर्षों की साधना भी उन्हें खदेड़ नहीं सकी। तुम इस बात को लेकर निराश मत बनो। अपनी साधना करते रहो। जिस दिन संस्कारों की जड़ें खोखली हो जाएंगी, उन्हें उखाड़ने में समय नहीं लगेगा। तुम्हारा साधनाकाल व्यर्थ नहीं हो रहा है। साधना का हर प्रयोग संस्कारों पर एक आघात करता है। अंतिम आघात से सफलता का द्वार खुलता है, पर पूर्व आघातों की प्रक्रिया निष्फल नहीं है। तुम अपने पुरुषार्थ की लौ को प्रदीप्त रखो। तुम्हारे जीवन की धरती पर रूपान्तरण के फूल खिलकर रहेंगे।’

चारित्रमोह का क्षयोपशम और क्या है—पुरुषार्थ की ही निष्पत्ति है। मर्यादा, अनुशासन और व्यवस्थाओं के प्रति जागरूक रहने की बात भी क्षयोपशम-सापेक्ष है। साधक का दायित्व है कि वह अपने जीवन को इस सांचे में ढालने के लिए निरंतर पुरुषार्थ करता रहे।

अनुशासन है सिद्धियों का द्वार

हर युग में कुछ लोग स्वतंत्र मानसिकता वाले होते हैं। वे नहीं चाहते हैं कि उन पर कोई अनुशासन करे। जबकि अनुशासन जीवन का एक महत्वपूर्ण मूल्य है। आज शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यों की चर्चा बल पकड़ती जा रही है, किन्तु विद्यार्थियों का जीवन मूल्यहीनता की दिशा में अग्रसर हो रहा है। राष्ट्रीय अनुशासन का तत्त्व तो संभवतः इतिहास में रह गया है। समाज और परिवार में भी अनुशासन का स्वर मन्द से मन्दतर होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के जीवन में अनुशासन कहां से आएगा! अनुशासन के अभाव में ही वर्तमान पर संकट के बादल गहराते जा रहे हैं। इस संकट से बचने का एकमात्र उपाय है अनुशासित जीवन।

गुरुकुलों की प्राचीन परंपरा में अनुशासन का ही एकछत्र साम्राज्य था। आचार्य सोमप्रभ ने तो यहां तक कह दिया—

किं ध्यानेन भवत्वशेषविषयत्यागैस्तपोभिः कृतं,
पूर्ण भावनयालमिन्द्रियदमैः पर्याप्तमाप्तागमैः।
किन्त्वेकं भवनाशनं कुरु गुरुप्रीत्या गुरोः शासनम्,
सर्वेयेन विना विनाथबलवत् स्वार्थाय नालं गुणाः॥

साधक! तुम ध्यान करते हो, संपूर्ण विषयों का त्याग करते हो, तपस्या करते हो, अच्छी भावना से भावित रहते हो, इन्द्रिय-निग्रह करते हो, आप्त पुरुषों द्वारा प्रणीत शास्त्रों का अध्ययन करते हो। पर अनुशासनहीन इन अनुष्ठानों से क्या होगा? तुम विनय के साथ गुरु के अनुशासन का पालन करो। अनुशासन के अभाव में उक्त क्रियाएं प्रयोजन-सिद्धि में वैसे ही असमर्थ हैं, जैसे बिना सेनापति की सेना युद्ध में विजयश्री का वरण करने में।

अनुशासन और समर्पण, वात्सल्य और विनय संगठन की दृढ़ता के प्रमुख तत्त्व हैं। जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का भार ढोते हैं, वे कभी समर्पित नहीं हो सकते। समर्पण के अभाव में गुरु के अनुशासन को भी विनम्रतापूर्वक स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहां विनय और वात्सल्य का योग होता है, वहां समर्पण करना नहीं पड़ता, वह सहज प्रकट होता है। हार्दिक समर्पण और हार्दिक अनुशासन—धर्मसंघ का गौरव इसी क्रम से वृद्धिगत होता है।

4. तेरापंथ : अनुशासनशैली-2

आचार्य भिक्षु तेरापंथ धर्मसंघ के प्रवर्तक थे। उन्होंने एक परम्परित धर्मसंघ की सदस्यता स्वीकार कर अपनी जीवनयात्रा प्रारंभ की। उस यात्रा में उन्हें अपने आदर्श खण्डहर होते प्रतीत हुए। उनकी चेतना स्पन्दित हुई। उन्होंने खण्ड-खण्ड होते आदर्शों की ओर अपने मार्गदर्शक का ध्यान आकृष्ट किया, पर उनकी आकांक्षाओं को पूरा करने वाला आश्वासन नहीं मिला। वे शास्त्रों की गहराई में उतरे। आदर्श और व्यवहार की विसंवादिता ने उनको आन्दोलित कर दिया। वे फिर अपने मार्गदर्शक के पास पहुंचे। उनके संवादों का लम्बा सिलसिला चला। पर सार्थक परिणाम सामने नहीं आया। उन्होंने अपना रास्ता स्वयं बनाने का निर्णय लिया। अनेक प्रकार की विभीषिकाओं और कठिनाइयों के कुहासे को चीरकर वे आगे बढ़े। पग-पग पर अवरोध, पग-पग पर विरोध, किन्तु वे रुके नहीं। उन्हें अनेक प्रकार की धमकियां मिलीं, पर वे घबराए नहीं। केलवा (मेवाड़) की अन्धेरी ओरी में उन्होंने आलोक पाया। आदर्श तक पहुंचाने वाले पथ पर पदन्यास किया। वह समय वि.सं. 1817, आषाढ़ मास की पूर्णिमा का दिन था।

तेरह साधु और तेरह श्रावक एक धर्मक्रान्ति के पुरस्कर्ता थे। तेरह संख्या के आधार पर ही उस धर्म को क्रान्ति को नया नाम मिला। आचार्य भिक्षु की जागृतप्रज्ञा ने इस संकीर्णता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इस नाम को एक व्यापक प्रस्तुति देते हुए कहा—हे प्रभो! यह तेरापंथ। ममकार और अहंकार विसर्जन का एक नया प्रयोग। प्रभु के पंथ का स्वीकार और अपने संपूर्ण अहं का परिहार—एक स्वतः स्फूर्त मर्यादा ने समर्पण का सूत्रपात कर दिया।

तेरापंथ का संविधान

नया काम कोई भी हो, प्रारंभ में कठिनाइयां आती हैं। नया पंथ कैसा भी हो, प्रारंभ में चलने वालों के मन में कुछ आशंकाएं रहती हैं। धीरे-धीरे काम जमता है। धीरे-धीरे पथ प्रशस्त होता है। आचार्य भिक्षु ने बारह साथियों के साथ जो यात्रा शुरू की, उसमें साथी साथ-साथ नहीं चल पाए। तेरह सहयात्रियों में से सात बिछुड़ गए। छह साधु रहे। छह साधुओं की व्यवस्था का काम बहुत जटिल नहीं होता, पर दीर्घकालीन नीति का निर्धारण चिन्तन की प्रखरता मांगता है। धर्मसंघ मर्यादित हो, उसमें अनुशासन एवं व्यवस्था बनी रहे, इस दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने एक संविधान की अपेक्षा का अनुभव किया। वि.सं. 1832, मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी के दिन एक लिखत लिखा। उसका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—‘चेला री, कपड़ा री, साताकारिया खेतर री आदि देइ नीं ममता कर-कर नै अनन्ता जीव चारित्र गमाय ने नरक निगोद माहे गया छै। तिण सूं शिषादिक री ममता मिटावण रो नै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै। विनयमूल धर्म नै न्याय मार्ग चालण रो उपाय कीधो छै। भेखधारी विकलां ने मूंड भेळा करे, ते शिषां रा भूखा एक-एकरा अवर्णवादबोल, फारातोड़ोकरै, कजियाराड़करै, एहवा चरित देख ने साधां रै मर्यादा बांधी। शिष-साखा रो संतोष कराय ने सुखे संजम पालण रो उपाय कीधो।’

उक्त लिखत लिखकर आचार्य भिक्षु ने तत्कालीन साधुओं को एकत्र कर सुनाया। उसके बारे में एक-एक साधु के विचार आमंत्रित किए। वैचारिक स्वतंत्रता का अधिकार देते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा—‘जो मर्यादाएं मैंने लिखी हैं, उन्हें आप सब पढ़ें, उन पर विचार करें, जिनको इनका औचित्य समझ में आए, वे अपनी सहमति प्रकट करें। मेरी ओर से किसी साधु पर कोई दबाव नहीं है। आप अपना चिन्तन निर्भय होकर बताएं। साधुओं ने उन मर्यादाओं को देखा, उन पर विचार किया और उन्हें संघ पर लागू करने के विषय में अपनी सहमति प्रकट की। आचार्य भिक्षु दूरदर्शी थे। वे मौखिक सहमति पर रुके नहीं। उन्होंने प्रत्येक साधु से लिखत-पत्र पर हस्ताक्षर कराए। एक-एक साधु से पूछकर, उनसे स्पष्ट कहलाकर मौखिक

और लिखित रूप में सबकी स्वीकृति पाकर उन्होंने उसे तेरापंथ धर्मसंघ के संविधान का रूप दे दिया। उसके बाद समसामयिक अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर समय-समय पर व्यक्तिगत और सामूहिक अनेक लिखत लिखे गए। अंतिम लिखत वि.सं. 1859 का है। तेरापंथ धर्मसंघ का मौलिक संविधान वही है। उसी को आधार बनाकर चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने मर्यादा-महोत्सव का सूत्रपात किया।

आचार्य भिक्षु ने कानूनशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था। किसी प्रसिद्ध विधिवेत्ता का सहयोग भी उन्हें नहीं मिला था। उन्होंने अपने अनुभव, चिन्तन और सूझबूझ के द्वारा एक छोटे-से समुदाय के लिए जो संविधान बनाया, वह सैकड़ों-हजारों व्यक्तियों के समूह को संगठित और सुव्यवस्थित रखने के लिए पर्याप्त है। विगत तेईस दशकों में उसकी किसी भी धारा में परिवर्तन की अपेक्षा नहीं हुई। यह संभावना की जा सकती है कि आचार्य भिक्षु की अन्तर्दृष्टि खुल गई, प्रज्ञा जाग गई, इसी कारण वे शाश्वत उपयोगिता वाले संविधान का निर्माण कर सके।

हजारों वर्षों की परंपरा में नया मोड़

तेरापंथ के संविधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने कुछ नई परम्पराएं स्थापित कीं। भगवान महावीर की शासन परम्परा में अनेक धर्मसंघ थे। एक संघ में अनेक आचार्यों की परम्परा असम्मत नहीं थी। तेरापंथ के संविधान का प्रथम सूत्र है—सब साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें। यह प्रयोग साधु-साध्वियों के लिए जितना कठिन है, आचार्य के लिए उससे भी अधिक कठिन है। आज्ञा में चलने वालों के लिए एक ही काम करणीय है अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं को गुरु के चरणों में समर्पित कर देना। **एके साधे सब सधे**—समर्पण का सूत्र हाथ लग गया तो सब कुछ मिल गया। सारी चिन्ताएं छूटीं, सारी उलझनें सुलझीं और जीवन पूरी तरह से निश्चित हो गया। साधना, शिक्षा, स्वास्थ्य, यात्रा आदि की व्यवस्था का पूरा दायित्व गुरु पर। बुढ़ापे में सेवा कौन करेगा? एक क्षण के लिए भी यह चिन्ता नहीं सताती। किसी प्रकार की समस्या सामने आई, गुरु के चरणों में पहुंचो और समाधान प्राप्त करो। कितना आनन्दमय जीवन होता है समर्पित

साधकों का, किन्तु समर्पण न हो, विनम्रता न हो, सहिष्णुता न हो, विश्वास न हो, धृति न हो और अन्तर्मुखता न हो तो अनुशासन में रहना बहुत कष्टकर हो जाता है।

अनुशास्ता के पास जादू का डंडा नहीं होता, जिसे घुमाकर सबको नियंत्रण में रखा जा सके। न उनके पास सैन्यशक्ति है, न दण्ड-शक्ति है और न बहुमत का बल है। उनके पास होता है अपनी साधना से अर्जित तेज और धर्मसंघ का संविधान। निज पर शासन: फिर अनुशासन—इस आदर्श को सामने रखकर वे व्यवस्था-तंत्र का संचालन करते हैं। एक-एक व्यक्ति की मानसिकता को समझना और उसे यथोचित स्थान में नियोजित करना बहुत बड़े कौशल का काम है।

संगठन की दृढ़ता के तत्त्व

तत्कालीन साधु-संस्थाओं में एक आचार्य के नेतृत्व में रहने वाले साधु-साध्वियों के लिए भी व्यक्तिगत रूप में अपने-अपने शिष्य बनाने की होड़ में योग्य-अयोग्य का परीक्षण भी नहीं होता था। एक-दूसरे के शिष्यों को फंटाना, दीक्षा के लिए उद्यत भाई-बहनों को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में करना, समर्थ साधुओं द्वारा शक्ति का उपयोग करना आदि पद्धतियां भी प्रचलित थीं। आचार्य भिक्षु ने इन सब स्थितियों का अनुभव किया। इनके कारण संघ में संभावित बिखराव को रोकने के लिए उन्होंने संविधान में एक धारा बनाई—कोई भी साधु-साध्वी अपना शिष्य न बनाए। उस परिस्थिति में इस धारा को लागू करना बहुत कठिन था, किन्तु आचार्य भिक्षु ने सोचा—हमारी नई व्यवस्था में अपने-अपने शिष्य बनाने का क्रम प्रारंभ हो गया तो फिर उसे रोकना संभव नहीं होगा। शिष्य-लोलुपता का रस साधु-साध्वियों को न लगे, इसलिए पानी आने से पहले पाल बांधना जरूरी है। शताब्दियों से जमे हुए संस्कारों को एक झटके से बदल देना हर एक व्यक्ति के वश की बात नहीं होती। साधारण व्यक्ति तो इतना साहस ही नहीं कर सकता।

व्यक्तिगत शिष्य प्रथा को नियंत्रित करने के बाद भी साधु-साध्वियों में आपसी दलबंदी को अवकाश रहता तो संगठन के प्राकार में कहीं भी दरारें हो सकती थीं। इस दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने दलबंदी पर तीखा प्रहार

क्रिया। गण में रहूं निर्दाव एकल्लो—संघ में रहते हुए भी निरपेक्ष अकेलेपन की भावना एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। संघ में न रहे तो साधना का पथदर्शन कहां से मिले? निरपेक्षता न हो तो संघ दलों या वर्गों में विभक्त हो जाता है। विभाजन की मनोवृत्ति स्वार्थ की अभिप्रेरणा है। सापेक्ष-निरपेक्षता का यह प्रयोग संघ को शक्तिसंपन्न बनाने का प्रयोग है। यहां निरपेक्ष अकेलेपन का अर्थ यह नहीं है कि संघ में रहने वाले अन्य साधु-साध्वियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहे। पारस्परिक सम्बन्धों के बिना संघीय जीवन की उपयोगिता भी नहीं है। यहां निरपेक्षता का अर्थ है—गुट या दल में नहीं बंधना और किसी को अपना बनाने का प्रयत्न नहीं करना।

एक आचार्य का नेतृत्व, एक आचार्य का शिष्यत्व, दीक्षा आचार्य के नाम से, विहार-चातुर्मास आदि आचार्य की आज्ञा से, भावी आचार्य का निर्वाचन आचार्य के द्वारा, संघीय पुस्तकें तथा उपकरण आचार्य की निश्रा में आदि ऐसे संस्कार हैं, जिनके कारण तेरापंथ धर्मसंघ आचार्य-केन्द्रित धर्मसंघ बन गया। आचार्य भिक्षु ने ये संस्कार किसी व्यक्ति विशेष को महत्त्व देने के लिए नहीं दिए। उनका उद्देश्य था—धर्मसंघों में बढ़ते जा रहे बिखराव से तेरापंथ को अप्रभावित रखना। उस दूरगामी चिन्तन का ही परिणाम है तेरापंथ की एकसूत्रता। एक आचार्य, एक सामाचारी और तत्त्वनिरूपण की एक शैली—एकत्व की इस त्रिपदी में संगठन के सारे तत्त्वों का समावेश हो गया। गणधर गौतम ने तत्त्व की जिज्ञासा की। भगवान महावीर ने **उप्यण्णे इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा**—इन तीन वाक्यों में उन्हें समाहित कर दिया। वामनावतार ने तीन पगों में पूरी धरती माप ली। अगस्त्य ऋषि ने तीन अंजलियों में पूरे समुद्र को समाहित कर लिया। इसी प्रकार आचार्य भिक्षु ने उक्त त्रिपदी में संगठन के आधारभूत तत्त्वों को सन्निहित कर संघ-संचालन की दिशा में एक मौलिक दृष्टि का अवदान दिया।

विग्रह से बचने के तीन रास्ते

आचार्य भिक्षु की अनुभव-संपदा बहुत विस्तृत थी। वे जानते थे कि श्रद्धा और आचार की दुहाई देकर दलबन्दी की जा सकती है। दलबन्दी में अनुशासन और मर्यादा की उपेक्षा असंभव नहीं है। उस स्थिति में संगठन

में सेंध लगाने का अवसर मिल सकता है। इस संभावना के आधार पर होने वाली तोड़फोड़ से संघ की सुरक्षा करने के लिए उन्होंने संविधान में एक धारा लिखी—श्रद्धा या आचार के बोल को लेकर गण में भेद न डालें। दलबन्दी न करें। आचार्य व बहुश्रुत साधु कहें वह मान लें, यदि वह तत्त्व बुद्धिगम्य न हो तो उसे केवलिगम्य कर दे'।

सबसे पहला तत्त्व है ज्ञान। किसी भी आलोच्य विषय में मतभेद हो तो अपने ज्ञान से समझने का प्रयास किया जाए। ज्ञान से समझ में न आए तो उस तत्त्व को श्रद्धा से स्वीकार करें। श्रद्धाशील व्यक्ति का चिन्तन यह होगा—मेरी समझ इतनी विकसित नहीं है। इसी कारण मैं तत्त्व की गहराई तक नहीं पहुंच पाया। मेरे गुरु ने अपने अनुभव और बहुश्रुत साधुओं की सहमति से विमर्शपूर्वक जो निर्णय दिया है, उसे स्वीकार करना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। ज्ञान और श्रद्धा—इन दोनों माध्यमों से चित्त समाहित न हो पाए तो एक तीसरा रास्ता है—**इदं तत्त्वं केवलिगम्यम्**—आलोच्य विषय मेरी समझ में समायोजित नहीं हो रहा है, इसलिए मैं इसे केवलज्ञानी व्यक्तियों पर छोड़ता हूं। यह ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा व्यक्ति के मन में उथल-पुथल मचाने वाले सन्देह रूपी अश्वों की लगाम हाथ में आ जाती है। यह न धोखा है, न वंचना है और न हीन भावना है। इससे आग्रहमुक्त चेतना का विकास होता है, कुतकों के चक्रव्यूह से बाहर निकलने का सुख मिलता है और दलबन्दी करने का मनोभाव क्षीण होता है।

जिस धर्मसंघ में श्रद्धा या आचार के विषय में कोई मंतव्य स्थिर न हो, वह विकास के नए आयाम नहीं खोल सकता। आचार्य भिक्षु महान तत्त्ववेत्ता थे। वे आगमों के गंभीर अध्येता थे। उन्होंने जिनवाणी के आधार पर सैद्धान्तिक मान्यताओं की स्थापना की और उसी के आधार पर आचार की कसौटियां प्रस्तुत कीं। श्रद्धा और आचार विषयक अपनी मौलिक स्थापनाओं के कारण उन्हें कठिन चुनौतियों से मुकाबला करना पड़ा, किन्तु वे कभी स्वीकृत पथ से पीछे नहीं हटे। इस क्षेत्र में समय-समय पर कुछ नई बातें भी उभरकर सामने आती रहीं। कभी-कभी स्थितियां काफी जटिल भी हुईं, किन्तु आचार्य भिक्षु द्वारा सुझाए गए तीनों रास्ते इतने प्रशस्त हैं कि

श्रद्धा और आचार के विषय में उठे हुए नए बोल के कारण उन्हें या उनके उत्तरवर्ती आचार्यों को कहीं रुकना नहीं पड़ता।

दोषों को न छिपाएं और न फैलाएं

संघ में साधना करने वाले साधु-साध्वियां वीतराग नहीं होते, मर्यादा और अनुशासन की अपेक्षा इसीलिए है। सब साधक वीतराग हों तो मर्यादाएं कृतार्थ हो जाती हैं और अनुशासन अकिंचित्कर बन जाता है। अवीतराग अवस्था में प्रमाद की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रमाद का प्रतिकार और परिष्कार जरूरी है। इस दृष्टि से संविधान की एक धारा है—किसी साधु-साध्वी में दोष जान पड़े तो तत्काल उसे या आचार्य को जता दें, किन्तु उसका प्रचार न करें। दोषों को चुन-चुनकर इकट्ठा न करें। दोषों की उपेक्षा करने से उनको प्रोत्साहन मिलता है और उनकी जड़ें मजबूत होती हैं। दोषों को फैलाने से व्यक्ति का सुधार तो होता ही नहीं है, संघ की गरिमा पर भी आंच आती है। इसलिए बीच का रास्ता निर्धारित किया गया—दोषों को न छिपाएं और न फैलाएं। इसका फलित होता है कि उपयुक्त स्थान पर उनकी जानकारी दी जाए। आचार्य से बढ़कर दूसरा उपयुक्त स्थान और क्या हो सकता है।

इस युग में एक नई संस्कृति पनप रही है—खामोशी की संस्कृति, चुप्पी की संस्कृति। कोई व्यक्ति कुछ भी करे, गलत करे या सही, उसे दूसरा कुछ कहने वाला नहीं है। किसी की गलत प्रवृत्ति देखकर प्रतिकार के प्रसंग में व्यक्ति सोचता है—किसी को गलती बताकर मैं कोप-भाजन क्यों बनूं? सम्बन्ध क्यों बिगाड़ूं? कोई गलती करता है तो मेरा क्या बिगड़ता है? मैं बिना मतलब सिरदर्द क्यों मोल लूं? यह स्वस्थ परंपरा नहीं है। इससे प्रमाद के परिमार्जन का रास्ता बन्द हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने इस सत्य का अनुभव किया। धर्मसंघ की निर्मलता के लिए उन्होंने साधु-साध्वियों को निर्देश दिया कि वे परस्पर एक दूसरे की गलती देखें तो कालक्षेप किए बिना उचित तरीके से उसे बता दें। बहुत समय के बाद गलती बताने का भी कोई औचित्य नहीं है। गलतियों को चुन-चुन कर इकट्ठा करना और आपसी मतभेद उभरने के बाद उन्हें प्रकट करना—यह सिद्धान्त भी नीतिसम्मत नहीं है।

इस सन्दर्भ में कुछ व्यक्ति निष्पक्ष नहीं रह पाते। उन्हें अपने निकट या अनुकूल रहने वाले व्यक्ति की गलती कभी गलती प्रतीत नहीं होती। कदाचित्त वैसी प्रतीति हो भी जाए तो उसे छिपाने का प्रयास होता है। दूसरे व्यक्ति की छोटी-सी भी गलती उन्हें बहुत बड़ी दिखाई देती है और वे उसे बढ़ा-चढ़ा कर प्रकट करते हैं। आचार्य भिक्षु ने इस नीति को मान्य नहीं किया। उन्होंने श्रावकों को भी यह अधिकार दिया कि साधु-साध्वियों की कोई गलती उनके ध्यान में आए तो वे उसे अनदेखी न करें। सम्बन्धित साधु-साध्वियों को सजग करें और उसकी जानकारी आचार्य तक पहुंचा दें।

तेरापंथ के अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी का अभिमत था—तेरापंथ धर्मसंघ में साधु-साध्वियों द्वारा गलती हो सकती है, पर वह चल नहीं सकती। जब भी किसी की गलती सामने आती है, तत्काल उसका उचित ढंग से प्रतिकार किया जाता है। प्रतिकार के अभाव में वह एक व्यक्ति से दूसरे में संक्रान्त होती हुई अन्य गलतियों को भी सहारा देती रहती है। तेरापंथ का इतिहास साक्षी है। यहां समय-समय पर सभी आचार्यों के युग में यथावश्यक अनुशासनात्मक कार्रवाइयां होती रही हैं। प्रतिबोध, उपालंभ, कड़ी डांट, प्रायश्चित्त, कड़ी नजर और संघ-विच्छेद तक की स्थितियां उन कार्रवाइयों के अन्तर्गत हुई हैं। इससे संबंधित व्यक्ति को अपनी वृत्तियों के परिष्कार का अवसर मिलता है और संघ के अन्य सदस्यों को जागरूक रहने की प्रेरणा मिलती है। परिवार, समाज और राजनैतिक दलों में भी दोषों के परिष्कार का यह उपक्रम प्रचलित रहे तो नीतिगत विकृतियों को रोका जा सकता है।

वंचना का परिहार

जिस डाल पर बैठना, उसी को काटने का प्रयास करना, मूढ़ता का लक्षण है। जिस संघ में साधना करना, उसके बारे में संदिग्ध रहना—यह भी एक प्रकार की मूढ़ता है। संघ की नीतियों पर आस्था न हो तो वहां रहने से क्या लाभ? आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि आस्था न होने पर भी किसी धर्मसंघ में रहना, यह सोचकर रहना कि इच्छा होगी तब तक रहेंगे, बाद में संघ छोड़ देंगे—बहुत बड़ी छलना है। इस नीति से संघ में खोखलापन आता

है। इस दृष्टि से उन्होंने एक मर्यादा बनाई—गण में शुद्ध साधुपन सरधे, वह गण में रहे, किन्तु छल, कपटपूर्वक गण में न रहे। जिसका मन साक्षी दे, भलीभांति साधुपन पलता जाने, गण में तथा अपने आपमें साधुपन माने तो गण में रहे। किन्तु वंचनापूर्वक गण में न रहे।

व्यक्तिगत दुर्बलता, अनुशासनहीनता, सुविधावाद, आचार में आई शिथिलता, महत्त्वाकांक्षा आदि किसी भी कारण से संघ से मुक्त होने वाले या किए जाने वाले व्यक्ति स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए संघ पर दोषारोपण कर सकते हैं। यह भी कह सकते हैं कि संघ में साधना ही नहीं है। ऐसे व्यक्तियों के निरंकुश प्रलाप को संविधान की उक्त धारा कीलित कर सकती है। यदि संघ में साधना का अवकाश ही नहीं था तो इतने समय तक वहां रहकर वंचना क्यों की? साधना में सहयोगी बनने वाले संघ के प्रति आस्था में छेद होगा तो व्यक्ति संघीय व्यवस्थाओं के प्रति जागरूक कैसे रह पाएगा?

एकतंत्र और जनतंत्र का समीकरण

तेरापंथ और अनुशासन—दोनों को एक-दूसरे का पर्याय माना जा सकता है। जहां अनुशासन, वहां तेरापंथ। अनुशासन नहीं तो तेरापंथ नहीं। अनुशासन पतंग की डोर है। वह जब तक हाथ में रहती है, अनुशासित व्यक्ति पर नियंत्रण किया जा सकता है। डोर कटने के बाद पतंग का पतन अवश्यम्भावी है। अनुशासन की डोर छूटने के बाद स्वच्छन्दता को रोकना कठिन हो जाता है। जहां हर व्यक्ति अपना नेता बनना चाहे, वहां अनुशासन की बात नहीं चल सकती। आचार्य भिक्षु ने संघीय जीवन में अनुशासन पर बहुत अधिक बल दिया। वे इस सचाई को जानते थे कि अनुशासन के अभाव में व्यवस्था-पक्ष ठीक नहीं रह सकता। जहां अनुशासन नहीं होगा, वहां अनेक प्रकार की लिप्साएं पनपेंगी। वे यह भी जानते थे कि किस व्यक्ति को कब कहा जाए? और कब सहा जाए? उन्होंने अपने संघ की बुनियाद में श्रद्धा, समर्पण जैसे तत्त्वों को सन्निहित किया, पर श्रद्धा के साथ चलने वाले तर्क तत्त्व को अस्वीकार नहीं किया। तर्कप्रवण श्रद्धा और श्रद्धाप्रवण तर्क की धरती पर अनुशासन के प्रयोग सफल हो सकते हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ में एक आचार्य का नेतृत्व है, फिर भी यहां एकतंत्र शासन प्रणाली नहीं है। नेता के निर्वाचन में मतदान की परम्परा नहीं है, इसलिए जनतंत्र भी नहीं है। संघ में आचार्य का स्थान सर्वोपरि होता है और संघ के प्रत्येक सदस्य को वैचारिक अभिव्यक्ति की पूरी स्वतंत्रता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि तेरापंथ धर्मसंघ में एकतंत्र और जनतंत्र का समीकरण है। उसे कोई नाम देना हो तो अध्यात्मतंत्र यह नाम दिया जा सकता है। नेता का निष्पक्ष वात्सल्य और शिष्य का अनौपचारिक समर्पण—इन दोनों का समन्वित रूप ही तेरापंथ का अनुशासन है।

नेतृत्व के संस्कार

नेतृत्व के तीन रूप हो सकते हैं—नैसर्गिक, अर्जित और आरोपित। जिन व्यक्तियों में नैसर्गिक नेतृत्व के गुण होते हैं, उन्हें इस क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए विशेष प्रशिक्षण लेने की अपेक्षा नहीं रहती। बचपन से ही उनमें ऐसे गुण प्रकट होने लगते हैं। उनके लिए जो समय खेलकूद और मौजमस्ती का होता है, उसमें वे परिपक्व अंदाज से सोचने लगते हैं। परिवार में कोई भी घटना घटती है, वे अनायास ही उससे प्रभावित हो जाते हैं। कुछ बच्चे अपने खेल के लिए ऐसे विषय का चयन करते हैं, जो उनकी नेतृत्व विषयक अभिरुचि को अभिव्यक्ति दे देते हैं।

बादशाह की बेगम ने अपने श्यामवर्ण वाले शाहजादा की एक पिंजारिन के सुन्दर और गौरवर्ण वाले पुत्र से अदला-बदली करली। शाहजादा के शरीर में राजपरिवार का रक्त था। उस रक्त में नेतृत्व के कण थे। वह साधारण घर में साधारण बच्चों के साथ रहा। फिर भी उसके मौलिक गुण आवृत नहीं हुए। अपनी किशोरावस्था में वह साथियों के साथ खेलते समय राजदरबार के दृश्य को मंचित करने का अभिनय करता। उसमें उसकी भूमिका बादशाह की रहती थी।

उधर पिंजारिन का बेटा शाही ठाटबाट में पला, किन्तु उसके संस्कारों में एक पिंजारा बैठा हुआ था। वह राजमहल में बैठा-बैठा कपास पीजने का अभिनय करता रहता। एक दिन बादशाह ने दोनों बालकों के क्रियाकलाप

देखे। उसे आश्चर्य हुआ। एक पिंजारा बादशाह की भूमिका में और शाहजादा पिंजारे की भूमिका में कैसे? बादशाह के मस्तिष्क में एक साथ सैकड़ों बिजलियां कौंध उठीं। उसने म्यान से तलवार खींची और बेगम से प्रश्न किया—‘बेगमसाहिबा! यह शाहजादा कौन है?’ बादशाह का तेवर देख बेगम हड़बड़ा गई। एक बार तो उसने यथार्थ से परदा नहीं उठाया, किन्तु बादशाह के हाथ में तलवार देख वह कांप उठी। उसने सारा सच उगल दिया।

एक बादशाह और एक पिंजारे के पुत्रों की अदला-बदली का यह किस्सा दो तथ्यों को उजागर करता है—

1. ऊपर के सौन्दर्य पर अटकने वाला व्यक्ति मौलिकता को खो देता है।
2. किसी भी वातावरण में व्यक्ति अपने नैसर्गिक वैशिष्ट्य को बचाकर रख लेता है।

जिन लोगों में नैसर्गिक नेतृत्व की क्षमता होती है, वह उचित अवसर मिलते ही अभिव्यक्त हो जाती है।

कुछ व्यक्ति प्रारंभ में साधारण-से प्रतीत होते हैं। उनमें किसी प्रकार की विशेषता परिलक्षित नहीं होती, पर गहरी निष्ठा और पुरुषार्थ से उनके नेतृत्व में निखार आ जाता है। ऐसे व्यक्ति नेतृत्व की क्षमता भी अर्जित कर सकते हैं। आरोपित नेतृत्व कभी कार्यकारी नहीं हो सकता। नेतृत्व प्राप्त करने की प्रक्रिया, जनमत-संग्रह हो या पारिवारिक परम्परा, क्षमता के अभाव में वह सदा आरोपित-सी ही रहेगी। वोटों के गलियारे से सत्ता के सिंहासन पर कोई भी पहुंच सकता है। वहां योग्यता का एकमात्र मानक है वोट। राजशाही परम्परा में भी ज्येष्ठ पुत्र को राजा का सम्मत उत्तराधिकारी माना जाता था। उक्त दोनों ही परम्पराओं में सत्ता संभालने वाला व्यक्ति संयोगवश योग्य हो भी सकता है। यदि वह योग्य होता है तो उसके नेतृत्व में राष्ट्र के विकास की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु वह योग्य न हो तो भी जनता उसे अपने अधिकार से वंचित नहीं कर सकती। इस आरोपित नेतृत्व के आगे लगे प्रश्नचिह्न का उत्तर किसके पास है?

नेतृत्व के घटक तत्त्व

आचार्य भिक्षु के व्यक्तित्व में नेतृत्व के गुण स्वाभाविक रूप में विकसित थे। एक नेता में सामान्यतः जो गुण होने चाहिए, उनकी एक छोटी-सी सूची यहां प्रस्तुत की जा रही है—

1. उदात्त चरित्र।
2. निष्पक्षता—रागद्वेष मुक्त तीसरी दृष्टि का विकास।
3. निर्णायक क्षमता, दूरदर्शिता और साहस।
4. समूह को साथ में लेकर चलने का दृष्टिकोण।
5. अधीनस्थ व्यक्तियों को उनकी रुचि और योग्यता के अनुरूप कार्य में नियोजित करने की कला।
6. कठोरता और कोमलता से समन्वित अनुशासन करने की क्षमता।
7. प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सन्तुलित रहने की क्षमता।
8. महत्वाकांक्षी योजनाओं के निर्माण और क्रियान्वयन की क्षमता।
9. सिद्धान्तों पर दृढ़ता, किन्तु विचारों में लचीलापन।

उक्त क्षमताओं को पोषण देने वाली कुछ और विशेषताएं भी हो सकती हैं। आचार्य भिक्षु के जीवन का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि नेतृत्व के विषय के जिन बिन्दुओं की यहां चर्चा की गई है, वे उनमें पूरे निखार पर थे। इसी कारण वैसी विषम परिस्थितियों में उनका नेतृत्व सफल हो सका।

आचार्य भिक्षु की धर्मक्रान्ति तेरापंथ नाम से इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज बन गई। इस इतिहास के निर्माण में विरोधी लोगों द्वारा जो संघर्ष उपस्थित किए गए, वह एक लोमहर्षक कहानी है। इन संघर्षों को बाह्य संघर्ष कहा जा सकता है। उनके युग में आंतरिक संघर्षों का सिलसिला भी बहुत लम्बा चला। आंतरिक संघर्ष का सम्बन्ध आचार्य भिक्षु के शिष्य वर्ग द्वारा उपस्थित किए गए संघर्षों से है। उनमें एक कथा मुनि तिलोकचन्दजी और चन्द्रभाणजी द्वारा किए गए विद्रोह की है। उनका विद्रोही स्वभाव आचार्य भिक्षु से छिपा नहीं था। उन्हें विद्रोह का अवसर नहीं मिले और

उनकी साधना निर्विघ्न रूप से चलती रहे, इस दृष्टि से आचार्यश्री ने उनको बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने मुनि भारीमालजी को अपने उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त किया तब संघ की सुव्यवस्था के लिए मर्यादापत्र लिखा। उसमें उन्होंने उक्त दोनों साधुओं को अधिमान देते हुए भावी आचार्य को निर्देश दिया कि वे तिलोकचन्दजी, चन्द्रभाणजी आदि बुद्धिमान साधुओं के परामर्श से कार्य करें।

आचार्य भिक्षु ने तिलोकचन्दजी और चन्द्रभाणजी को इतना महत्त्व दिया, फिर भी मुनि भारीमालजी की युवाचार्य पद पर नियुक्ति होने के बाद वे भीतर ही भीतर विद्रोही बन गए। उन्होंने कई साधुओं को भी दिग्भ्रमित कर दिया। वे अपने अभियान को और अधिक तीव्र करते, किन्तु आचार्यश्री ने उनके गलत मंसूबों को समझ लिया। उनके पास सत्य का बल था। उनका पक्ष यौक्तिक था। उन्होंने एक-एक कर दिग्भ्रान्त हुए सब साधुओं को ठीक कर लिया। तिलोकचन्दजी और चन्द्रभाणजी का पक्ष कमजोर पड़ गया। एक बार वे आचार्यश्री के अनुकूल दिखाई दिए, किन्तु कालान्तर में फिर अंतरंग तोड़फोड़ में सक्रिय हो गए। उस दुर्नीति के कारण आचार्य भिक्षु ने उनको संघ से निष्कासित कर दिया।

एक ओर जिन साधुओं का इतना अधिमान, दूसरी ओर उनका संघ से संबंध-विच्छेद। विद्वान और प्रभावशाली साधु संघ से अलग होकर समस्या खड़ी कर देंगे, श्रावक समाज को तोड़ लेंगे या गांव-गांव में अवर्णवाद बोलेंगे—इस प्रकार की आशंका से वे विचलित नहीं हुए। संघहित की दृष्टि से उन्हें जो उचित लगा, वही किया। नेतृत्व की इस कसौटी पर वे शत-प्रतिशत खरे उतरे।

संख्या से अधिक मूल्य गुणवत्ता का

आचार्य भिक्षु कुशल अनुशास्ता थे। उनके अनुशासन-कौशल पर बहुआयामी शोध को पूरा अवकाश है। नया संघ, नए लोग, विरोधी वातावरण, चारों ओर से सैद्धान्तिक आक्रमण, दूसरे-दूसरे सम्प्रदाय से आकर मिले साधुओं की स्वच्छन्द मनोवृत्तियां और जीवन-यापन के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं का अभाव। उन विषम परिस्थितियों में भी

आचार्य भिक्षु अकम्प रहे। अन्य धर्मसंघों की अंतरंग स्थितियों से वे संतुष्ट नहीं थे। आचार के सन्दर्भ में शिथिलता की बात उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। साधु-साधवियों की संख्या कम होने पर भी उन्होंने संख्या-वृद्धि के लिए कभी आचार को गौण नहीं किया।

चंडावल की घटना है। फत्तूजी आदि पांच साधवियों से आचार्य भिक्षु ने कहा—तुम्हें वस्त्र की जरूरत हो तो ले लो। उन्होंने जरूरत बताई। जितना वस्त्र मांगा, उतना दे दिया गया। आचार्य भिक्षु संभवतः चेहरा देख कर मन के भाव जान लेते थे। उनके मन में शंका उत्पन्न हुई कि साधवियों के पास वस्त्र मर्यादा से अधिक होना चाहिए। साधवियों से पूछा गया तो उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया। आपने उसी समय मुनि अखेरामजी को साधवियों के स्थान पर भेजा और उनके वस्त्र मंगवाकर उनका माप किया। वस्त्र मर्यादा से अधिक थे। आचार्य भिक्षु ने साधवियों को कड़ा उपालम्भ दिया। भविष्य में वे साधवियां वस्त्र आदि की मर्यादा के प्रति जागरूक रह पाएंगी, ऐसा विश्वास न होने के कारण पांचों साधवियों का एक साथ संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। आचार के क्षेत्र में स्वयं जागरूक रहने वाले व्यक्ति ही दूसरों पर इस प्रकार की अनुशासनात्मक कार्रवाई करने में सफल हो सकते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिक प्रयोग

आचार्य भिक्षु ने मनोविज्ञान का विधिवत अध्ययन नहीं किया। फिर भी वे महान मनोवैज्ञानिक थे। मनुष्य के मन को समझना और समझाना—दोनों ही काम कठिन हैं। आचार्य भिक्षु ने मुनि वेणीरामजी को जिस ढंग से प्रतिबोध दिया, लगता है वे महान मनोवैज्ञानिक थे। बात यों हुई—

मुनि वेणीरामजी ने आचार्य भिक्षु से कहा—‘हिंगुल से पात्र नहीं रंगने चाहिए।’ आचार्य भिक्षु पात्र रंगने में कोई दोष नहीं मानते थे। उन्होंने सोचा—इसे सही बात भी कही जाएगी तो अभिनिवेश के कारण सम्यक् प्रतीति नहीं होगी। इस दृष्टि से आपने कहा—‘वेणीराम! मेरी निश्रा के पात्र तो रंगे हुए हैं। तुम्हें शंका हो तो तुम अपनी निश्रा के पात्र मत रंगना।’ यह बात सुन मुनि वेणीरामजी बोले—‘मैं अपने पात्र खपरेल से रंगने का विचार रखता

हूँ।' आचार्य भिक्षु ने पूछा—'तुम खपरेल लेने जाओगे, तब यदि पहले पीले रंग का कच्चा खपरेल दिखाई दे और उससे कुछ आगे लाल रंग का पक्का खपरेल दिखाई दे, तो तुम कौन-सा लोगे?'

मुनि वेणीरामजी ने कहा—'उनमें से तो लाल रंग वाला पक्का खपरेल ही लूंगा।' आचार्य भिक्षु निष्कर्ष की भाषा में बोले—'तुम्हारी भावना तो अच्छा रंग खोजने की ही रही। खपरेल में अच्छा रंग खोजते हो तो मूल रंग में कौन-सी बाधा है?' मुनि वेणीरामजी अपने मन में आए भावों के उतार-चढ़ाव को अनुभव कर रहे थे। हिंगुल, लाल खपरेल और पीले खपरेल की तरह उनके मानसिक रंग भी गहरे और हल्के हो रहे थे। उन क्षणों में आचार्य भिक्षु ने उनको समझाया। वे समझ गए। हिंगुल से पात्र रंगने या न रंगने के बारे में उनका आग्रह समाप्त हो गया।

कोटा वाले आचार्य दौलतरामजी के सम्प्रदाय के चार साधुओं ने आचार्य भिक्षु के पास पुनः दीक्षा ग्रहण की। उनमें से एक साधु छोटे रूपजी बोले—'भोजन में ठंडी रोटी मुझे रुचिकर नहीं लगती।' सामूहिक जीवन में बिना विशेष कारण किसी एक व्यक्ति को इस प्रकार की छूट देने से दूसरों की मानसिकता भी बदल सकती है। आचार्य भिक्षु मनुष्य की इस दुर्बलता से परिचित थे। उन्होंने भोजन के संविभाग का दायित्व स्वयं पर लिया। प्रत्येक ठंडी रोटी पर एक-एक लड्डू रखकर उन्होंने कहा—'जो ठंडी रोटी छोड़े, वह लड्डू भी छोड़े। जो गरम रोटी लेगा, उसके विभाग में लड्डू नहीं आएगा।'

ठंडी और गरम की चर्चा समाप्त हो गई। दीक्षा-पर्याय के क्रम से सब साधुओं ने अपना विभाग ले लिया। इस प्रसंग में ठंडी रोटी को अस्वीकार करने वाले साधु को ठंडी रोटी खाने के लिए बाध्य किया जाता तो बात बढ़ने की संभावना थी। यदि उन्हें गरम रोटी ही देने की बात स्वीकृत कर ली जाती तो कुछ अन्य साधु भी ठंडी रोटी खाने से इन्कार कर देते। उस समय पेट भरने के लिए पर्याप्त भोजन मिलना भी कठिन था। उसमें ठंडे और गरम का विवाद खड़ा रहने दिया जाता तो प्राप्त भोजन का उपयोग करते समय शान्ति और प्रसन्नता को विदा करना जरूरी हो जाता। आचार्य

भिक्षु ने ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया कि किसी के द्वारा कुछ कहने का अवसर ही नहीं आया।

दो और दो—चार जैसा समाधान

आचार्य भिक्षु उन दिनों पादू में प्रवास कर रहे थे। वहां एक भाई ने कहा—‘हेमजी स्वामी की चादर प्रमाण से बड़ी लग रही है।’ यह बात आचार्य भिक्षु के कानों तक पहुंची। साधु चादर, चोलपट्टा आदि उपकरण लेते हैं तो आचार्य स्वयं अपने हाथ से उसका माप करते हैं। संभवतः वह चादर भी आचार्य भिक्षु द्वारा मापी हुई थी। फिर भी उन्होंने चादर बड़ी होने का आरोप लगाने वाले भाई से कुछ नहीं कहा। मुनि हेमराजजी को अपने पास बुलाया। लम्बाई और चौड़ाई—दोनों ओर से चादर का माप करके उस भाई को दिखा दिया। वह प्रमाणोपेत थी।

आचार्य भिक्षु ने उस भाई को उपालम्भ देते हुए कहा—‘चार अंगुल वस्त्र के लिए कोई साधु अपना साधुपन क्यों खोएगा? क्या तुम हमें इतने भोले समझ रहे हो? तुम्हें साधुओं की इतनी ही प्रतीति नहीं है? यदि कोई साधु मार्ग में सजीव जल पी ले या और कुछ कर ले तो तुम उसके पीछे कहां-कहां जाओगे?’ भाई को अपनी भूल का अहसास हो गया। उसने बद्धांजलि होकर निवेदन किया—‘स्वामीजी! मुझे व्यर्थ ही संदेह हो गया, आप क्षमा करें।’

एक दिन सन्ध्या के समय श्रावक विजयचन्दजी पटवा सामायिक और प्रतिक्रमण करने के लिए साधुओं के स्थान पर गए। आकाश मेघाच्छन्न था। दिन कितना शेष है, इसका पता नहीं चल रहा था। विजयचन्दजी ने आचार्य भिक्षु से निवेदन किया—‘महाराज! दिन कम है। आप पानी पी लें और करणीय काम पूरे कर पानी चुकता कर दें।’

आचार्य भिक्षु को ज्ञात था कि उस समय तक दिन काफी शेष था। फिर भी उन्होंने श्रावकजी के कथन का प्रतिवाद नहीं किया। उन्होंने पानी पिया, साधुओं को पिलाया और पानी चुकता कर दिया। कुछ समय बाद धूप निकली। दिन काफी शेष था। आचार्य भिक्षु ने विजयचन्दजी को लक्ष्य

बनाकर कहा—‘साधुओं को रात्रि में पानी पीना नहीं है। गृहस्थ के रात्रि में पानी पीने का त्याग नहीं होता। इसलिए वे रात में पानी पी लेते हैं। उन्हें क्या पता प्यास का परीषह कैसा होता है?’

यह बात सुन विजयचन्द्रजी आचार्य भिक्षु के चरणों में प्रणत होकर बोले—‘स्वामीजी! आप अवसर के जानकार हैं, पर मुझे उसका पता नहीं चला।’ आचार्य भिक्षु अनुमान और अनुभव से जानते थे कि उस समय सूर्यास्त होने में काफी समय शेष था। फिर भी उन्होंने एक श्रावक के निवेदन पर तत्काल पानी का काम निपटा दिया, किन्तु जब सूरज की धूप निकल आई तब हाथ कंगन को आरसी क्या? इस कहावत को चरितार्थ करते हुए श्रावकजी को प्रतिबोध दे दिया। दो और दो-चार—जैसा समाधान मिल गया।

अनुशासन के दो रूप

आचार्य भिक्षु एक नए धर्मसंघ का संचालन कर रहे थे। प्रत्येक साधु-साध्वी के आचरण की तटस्थ समीक्षा कर उन्हें उपयुक्त दिशादर्शन देना उनका काम था। उनकी प्रवृत्ति पर वे नजर रखते थे। उनके अनुशासन का तरीका विलक्षण था। कभी वे मधुरता से समझाते, कभी कठोर रुख अपनाते, कभी मौन रहते, कभी यौक्तिक ढंग से बात गले उतार देते, कभी बिना कोई भूमिका बांधे सामने वाले को त्याग कराते और कभी स्वयं त्याग कर देते। आचार-व्यवहार एवं संघीय मर्यादाओं के विषय में विशेष प्रमाद होने पर वे संघ से सम्बन्ध-विच्छेद तक कर देते थे। प्रस्तुत संदर्भ में ऐसे कुछ प्रसंगों की चर्चा की जा रही है—

तिलोकचन्द्रजी और चन्द्रभाणजी—इन दो साधुओं का आचार्य भिक्षु ने संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया। वे अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए थली प्रदेश में गए। मुनि वेणीरामजी ने आचार्यश्री से निवेदन किया—‘मैं थली प्रदेश में जाऊं और चन्द्रभाणजी से चर्चा करूं।’

आचार्य भिक्षु बोले—‘तुम्हें उनसे चर्चा करने का त्याग है।’ आचार्य भिक्षु ने तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर समझ लिया कि वह समय

चन्द्रभाणजी से चर्चा करने के लिए उपयुक्त नहीं है। इसके साथ यह भी जान लिया कि उक्त बात मुनि वेणीरामजी के गले उतारनी संभव नहीं है। अनुपयुक्त और असंभव काम में समय लगाने का औचित्य क्या होता ? इस दृष्टि से उन्होंने तर्क में न जाकर उन्हें सीधा त्याग करा दिया।

दूसरी घटना नाथद्वारा की है। गुजरात से एक अन्य सम्प्रदाय का साधु सिंघजी आचार्य भिक्षु के पास आकर दीक्षित हुआ। कुछ समय तक वह ठीक रहा। फिर अनुभव हुआ कि वह योग्य नहीं है। उसका संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। वह मांडा गांव चला गया।

मुनि खेतसीजी ने आचार्य भिक्षु से निवेदन किया—‘आप सिंघजी को प्रायश्चित्त देकर पुनः संघ में लें, मैं जाकर उसे ले आता हूँ।’ आचार्य भिक्षु उसकी गतिविधियों से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—‘वह पुनः संघ में लेने योग्य नहीं है।’ आचार्य भिक्षु द्वारा मनाही करने पर भी मुनि खेतसीजी उनके प्रति अनुकंपित होकर उसे लाने के लिए कमर कसकर तैयार हो गए।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासनात्मक कार्रवाई करते हुए कहा—‘यदि तुमने उसके साथ आहार किया तो तुम्हारे साथ हमें आहार करने का त्याग है।’ इस चेतावनी के बाद मुनि खेतसीजी के कदम रुक गए। उन्होंने मांडा जाने का विचार छोड़ दिया।

इन घटनाओं से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि महामना आचार्य भिक्षु अनुशासन के सफल प्रयोक्ता बन चुके थे।

5. तेरापंथ : अनुशासनशैली-3

समूह में सब प्रकार के व्यक्ति होते हैं। प्रबुद्ध, चिन्तक, लेखक, कवि, प्रवक्ता, कलाकार और सेवाभावी व्यक्तियों से समूह की शोभा और उपयोगिता में वृद्धि होती है तो साधारण स्तर के व्यक्तियों का महत्त्व भी कम नहीं है। भवन के निर्माण में बड़े-बड़े पाषाण, शिलाएं, ईंटें, चूना, सीमेंट आदि उपयोगी होते हैं तो छोटे-छोटे कंकरों और मिट्टी का भी अपना मूल्य है। संघबद्ध साधना करने वाले साधकों की साधना, चर्या, अपेक्षाओं आदि को ध्यान में रखना आचार्य का दायित्व है। प्राचीन परंपरा के अनुसार संघ के व्यवस्था पक्ष की जिम्मेदारी आचार्य पर नहीं रहती थी। **गणतन्त्रिविप्यमुक्को**—गण की सब चिन्ताओं से मुक्त रहकर अपने शिष्यों का आगमों की अर्थयात्रा में सहयोग करना अथवा प्रवचन करना आचार्य का काम है। इस अवधारणा का प्रारंभ कब हुआ ? और इस पर विराम कब लगा ? ऐतिहासिक दृष्टि से खोज का विषय है।

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक आदि सात पदों की व्यवस्था में आचार्य के महत्त्वपूर्ण, किन्तु सीमित दायित्व की बात समझ में आती है, किन्तु आचार्य भिक्षु ने सब पदों का कार्यभार एक आचार्य में सन्निहित कर दिया। उस स्थिति में प्रवचन, प्रशासन, प्रशिक्षण और परिचर्या तक के कार्यों की व्यवस्था का दायित्व आचार्य पर आ गया। आचार्य भिक्षु बीमार साधुओं के लिए दाल मंगाते और वह दो तरह की आ जाती तो उसे अलग-अलग रखते। कोई दाल तीखी होती, कोई कड़वी होती। बीमार के लिए कौन-सी रुचिकर होगी, कौन-सी रुचिकर नहीं होगी—इस जानकारी

तक वे उसे मिलाकर एक नहीं करते। इस प्रकार आचार्य भिक्षु अपने दायित्व के प्रति पूरी तरह से जागरूक रहते। इस दायित्व-प्रतिबद्धता के कारण उनको छोटी-छोटी बातों में भी अनुशासन का प्रयोग करना पड़ा।

वि. सं. 1856 का प्रसंग है। अस्वस्थता के कारण आचार्य भिक्षु ने लगभग तेरह महीनों तक नाथद्वारा में प्रवास किया। वहां मुनि हेमराजजी गोचरी गए। वे चने और और मूंग की दाल मिलाकर ले आए। आचार्य भिक्षु ने उसे देखकर पूछा—‘चने और मूंग की दाल इकट्ठी किसने की?’ मुनि हेमराजजी बोले—‘यह मैं लाया हूं।’ आचार्य भिक्षु को उनका वह कार्य प्रमादपूर्ण लगा। उन्होंने उपालंभ के लहजे में कहा—‘बीमार साधुओं के लिए चेष्टापूर्वक अलग-अलग दाल लाने की बात तो कहीं रही, पर जो अलग-अलग थी, उन्हें तुमने इकट्ठा क्यों किया?’ मुनि हेमराजजी ने निवेदन किया—‘अनजान में ये इकट्ठी हो गई।’

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि उक्त प्रसंग में मुनि हेमराजजी द्वारा प्रमाद हुआ है। उन्होंने मुनि हेमजी को सचेत किया। इसकी उनके मन पर प्रतिक्रिया हुई। वे उदास हो गए और एकान्त स्थान में जाकर लेट गए। भोजन के समय वे उपस्थित नहीं थे। आचार्य भिक्षु ने सहज ही उनकी मनः स्थिति का अनुमान लगा लिया। प्रतिक्रिया की स्थिति में कोई बात कहने से उलटी प्रतिक्रिया भी संभव है। इसलिए उस समय वे मौन रहे। भोजन से निवृत्त हो आचार्य भिक्षु उनके निकट जाकर बोले—‘अपनी आत्मा के अवगुण देख रहे हो या मेरे?’

मुनि हेमराजजी के चिन्तन को नई दिशा मिली। उन्होंने विनम्रभाव से कहा—‘स्वामीजी! अवगुण तो अपने ही देख रहा हूं।’ आचार्य भिक्षु ने अपने अनुशास्ता स्वरूप को गुरु के रूप में परिणत कर वात्सल्य उंडेलते हुए कहा—‘उठो, आहार कर लो। आज के बाद सावधान रहना।’

भाई-भतीजावाद से मुक्त अनुशासन

आचार्य भिक्षु के अनुशासन में उनकी निष्पक्ष वृत्ति का स्पष्ट दर्शन होता है। उनसे प्रतिकूल वर्तन करने वाले साधुओं के लिए उन्होंने जैसा कठोर

अनुशासन नहीं किया, वैसा अपने प्रिय कृपापात्र एवं संभावित उत्तराधिकारी शिष्य मुनि भारीमालजी पर किया। उस समय मुनि भारीमालजी बालक साधु थे। आचार्य भिक्षु ने उनसे कहा—‘भारीमाल! कोई गृहस्थ खामी बताए, ऐसा काम तुझे नहीं करना चाहिए। गृहस्थ खामी बताए, वैसा काम यदि तू करेगा तो तुझे तेले का प्रायश्चित्त करना होगा।’ मुनि भारीमालजी ने आचार्यश्री की आज्ञा शिरोधार्य करते हुए जिज्ञासा की—‘गुरुदेव! कोई द्वेषवश बिना ही गलती किए गलती बतला दे तो?’ आचार्य भिक्षु बोले—‘यदि कोई झूठमूठ खामी बतलाए तो समझ लेना कि पहले किए हुए पाप उदय में आए हैं, पर तेला तो करना ही होगा।’

मुनि भारीमालजी इतने विनीत थे कि बिना किसी प्रतिवाद के गुरु के वचन स्वीकार कर लिए। वे अपने जीवन में इतने सजग रहे कि किसी को उनकी गलती बताने का अवसर ही नहीं मिला। एक अभिमत के अनुसार उन्होंने प्रायश्चित्त के रूप में एक तेला किया।

वर्तमान युग में भाई-भतीजावाद के संस्कार इतने बद्धमूल हो रहे हैं कि हर क्षेत्र में उनका प्रभाव देखा जा सकता है। जो व्यक्ति कुछ समय पूर्व इस नीति की आलोचना करता है, अवसर मिलते ही वह भी उसके प्रवाह में बह जाता है। सत्ता के सिंहासन पर आरूढ़ अनेक राजनेताओं के परिजन आज सवालियों के घेरे में खड़े हैं। इस अपनेपन के व्यामोह में व्यक्ति अपने सिद्धान्तों और नीतियों को भी तिलांजलि देने में संकोच नहीं करता। राष्ट्र की सेवा करने का व्रत परिवार या पार्टी की सेवा तक सीमित हो जाता है। अपने लोगों की बड़ी-बड़ी गलतियों को दबा दिया जाता है और दूसरों की छोटी-छोटी भूलों को भी उछालने का प्रयास होता है। इसी प्रकार पारस्परिक विश्वास का लोप होता है और संशय के बिच्छू डंक लगाते रहते हैं।

अमुक व्यक्ति मेरा भाई है, पुत्र है, चाचा है, साला है, मैं उसे लाभ कैसे पहुंचाऊं? उसे कैसे बचाऊं? इस प्रकार संभ्रम के काले वलय में फंसा हुआ व्यक्ति समाज या राष्ट्र के हितों से आंखमिचौनी करता रहता है, पर यह नीति व्यक्ति को दीर्घकालीन सफलता नहीं दे सकती। एक समय ऐसा आता है, जब व्यक्ति के संजोए हुए सपने बिखर जाते हैं। सत्य पर डाला

हुआ आवरण किसी भी कारण से हटता है तो स्वेच्छाचार और अराजकता का किला भरभरा कर गिर पड़ता है। बावजूद इसके व्यक्ति अपने बचाव के लिए आसमान सिर पर उठा लेता है।

प्रश्न केवल राजनेताओं का नहीं है, शिक्षा, व्यवसाय, समाज और धर्म के क्षेत्र में भी भाई-भतीजावाद का खेल खुलकर खेला जा रहा है। आसक्ति के इस सघन अंधेरे में आचार्य भिक्षु के जीवन-प्रसंग आलोक दीप बनकर जगमगा रहे हैं। उन्होंने संघ को आचार, सुव्यवस्थित और संगठित बनाए रखने के लिए अनेक प्रयोग किए। उन प्रसंगों को बार-बार पढ़ने से नई प्रेरणा मिल सकती है।

आचार्य भिक्षु जिनवाणी पर समर्पित थे। वे स्वयं आगमों का स्वाध्याय करते और अपने शिष्यों को प्रेरणा देते। कंठस्थ ज्ञान को स्थायी रखने का सबल माध्यम है स्वाध्याय। उनकी आकांक्षा थी कि सब साधु स्वाध्याय में रस लें। पूरे धर्मसंघ को प्रेरित करने के लिए उन्होंने एक बार मुनि भारीमालजी को निर्देश दिया—‘तुम समग्र उत्तराध्ययन सूत्र का खड़े-खड़े पुनरावर्तन करो।’ आज के विद्यार्थी होते तो शिक्षक के आदेश-निर्देश को उन्हीं पर लागू करते हुए कह देते—‘पहले स्वयं खड़े होकर देखो।’ पर मुनि भारीमालजी विचित्र व्यक्ति थे। उन्होंने आचार्यश्री के निर्देश को स्वीकार करते हुए अपनी समस्या प्रस्तुत की—‘गुरुदेव! कदाचित नींद में नीचे गिर जाऊं तो?’ आचार्य भिक्षु ने समस्या का समाधान सुझाते हुए कहा—‘कोने का प्रमार्जन कर उसके सहारे खड़े रहो।’ मुनि भारीमालजी ने आचार्यश्री के निर्देशानुसार अनेक बार खड़े-खड़े समग्र उत्तराध्ययन सूत्र का स्वाध्याय किया।

एक कड़ी कसौटी

आचार्य भिक्षु ने साध्वाचार में आए शैथिल्य को चुनौती देते हुए एक नया रास्ता लिया। उस यात्रा में उनके साथ कुछ साधु थे। तेरापंथ की स्थापना हुए चार वर्ष होने जा रहे थे। संघ में कोई भी साध्वी नहीं थी। कुछ विरोधी लोग व्यंग्यबाण भी बरसाने लगे, किन्तु आचार्य भिक्षु ने अपनी हाजिरजवाबी से उनको निरुत्तर कर दिया। उन्हें एक क्षण के लिए भी यह

चिन्ता नहीं हुई कि तीन तीर्थ—साधु, श्रावक, श्राविका के आधार पर उनके संघ को अधूरा बताया जा रहा है। वे संख्या पर नहीं, गुणवत्ता पर ध्यान देते थे। वि.सं. 1821 में उनके पास पहली बार तीन महिलाएं दीक्षा की प्रार्थना करने आईं तब तक आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ में किसी भाई-बहन को दीक्षित नहीं किया था। जितने साधु थे, वे सब पहले अन्य सम्प्रदायों में दीक्षित थे। उन्होंने आचार्यश्री के साथ या उनके पास पुनः दीक्षा स्वीकार की थी।

गृहस्थ-जीवन से साधु-जीवन में प्रवेश की प्रार्थना का वह प्रथम प्रसंग था। संघ में साध्वियां थी नहीं, इसलिए उन्हें अविलम्ब दीक्षा देने की बात सोची जा सकती थी। उनकी कड़ी कसौटी न की जाए, यह चिन्तन उभर सकता था, किन्तु आचार्य भिक्षु ने उनसे स्पष्ट शब्दों में कहा—‘तुम तीनों साथ-साथ दीक्षित होने की बात कर रही हो। कदाचित् तीनों में से किसी एक का वियोग हो जाए तो तुम कैसे रह पाओगी? क्योंकि केवल दो साध्वियों का रहना आगम सम्मत नहीं है। वैसी स्थिति होने पर तुम्हें संलेखना करनी होगी, समाधि मृत्यु की तैयारी के लिए तपस्या करनी होगी। अपने-अपने मन को तोल लो।’

आचार्य भिक्षु का उक्त निर्देश दीक्षार्थी बहनों में विभीषिका उत्पन्न करने के लिए नहीं था। वे अनुभवी अनुशास्ता थे। भविष्य में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित न हो, यह सोचकर उन्होंने महिलाओं से एक चुनौती भरा प्रश्न किया। वे महिलाएं भी विलक्षण थीं। उन्होंने उस चुनौती को झेला। संलेखना की बात स्वीकार की। तीनों बहनों की दीक्षा एकसाथ हो गई। उसके बाद साध्वियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई, इसलिए पहली बार दीक्षित साध्वियों के सामने संलेखना का प्रसंग नहीं आया, पर आचार्य भिक्षु ने अपनी विशुद्ध नीति और अप्रतिम साहस से साध्वी-समाज का एक विशिष्ट इतिहास बना दिया।’

तीसरी दृष्टि का उपयोग

कुछ व्यक्ति नेता या अनुशास्ता को प्रिय हो सकते हैं तथा कुछ व्यक्ति अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के कारण अप्रिय भी हो सकते हैं। प्रियता और अप्रियता के आधार पर न्याय नहीं होता। न्याय के क्षेत्र में साक्ष्यों, युक्तियों

और व्यवहारों को आधार बनाया जाता है। कुछ और भी बातें आवश्यक मानी गई हैं—

प्रथम अकल बहु होय, लोभ मन रती न राखै,
भय न जबर को करै, दीन-खल दया न दाखै,
शत्रुन को उर आण, शत्रु को शत्रु न मानै,
मित्रन को उर आण, मित्र को मित्र न जानै,
आलस न करै नृप एक छिन, सबै कसर प्रभु माफ की,
प्रताप बढै निश्चै कियां सात बात इन्साफ की॥

राजा की कीर्ति को बढ़ाने वाला एक तत्त्व है उसकी न्यायप्रियता। न्याय करने के लिए सात बातें जरूरी हैं। जिस राजा के जीवन में ये उजागर रहती हैं, उसकी अन्य सभी कमियों को क्षम्य माना जा सकता है। न्याय के लिए जरूरी सात बातें निम्नलिखित हैं—

1. प्रखर बौद्धिक क्षमता
2. अनासक्ति—निर्लोभता
3. शक्तिशाली व्यक्ति से भी अभय
4. दुष्ट व्यक्ति द्वारा दीनता प्रकट करने पर भी दया नहीं करना
5. न्याय की मांग लेकर शत्रु भी निकट आए तो उसे शत्रु नहीं मानना
6. न्याय की मांग लेकर आने वाले मित्र को भी मित्रबुद्धि से ऊपर उठकर न्याय देना
7. न्याय के मामले में एक क्षण भी प्रमाद नहीं करना।

यह एक मानवीय दुर्बलता है कि मनुष्य अपने शत्रुता और मित्रता के भावों पर नियंत्रण नहीं कर सकता। शत्रु का पक्ष उचित होने पर भी उसे अनुचित प्रमाणित करने की वृत्ति मुखर हो जाती है। इसी प्रकार मित्र की अनुचित मांग को भी स्वीकार कर लिया जाता है। न्याय के क्षेत्र में इस वृत्ति को त्याज्य माना गया है। अध्यात्म के क्षेत्र में तो ऐसी वृत्ति को प्रश्रय देने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आचार्य भिक्षु नितान्त आध्यात्मिक व्यक्ति थे। उन्हें अपने जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों प्रकार के व्यक्तियों से पाला पड़ा। अनुकूल व्यक्ति के प्रति प्रियता के भाव स्वाभाविक हैं। इसी प्रकार प्रतिकूल व्यक्ति के प्रति अप्रियता के भाव जाग सकते हैं, किन्तु जिनको समता की दृष्टि उपलब्ध हो जाती है, वे प्रियता और अप्रियता में उलझते नहीं। रीयां और पीपाड़ के बीच में आचार्य भिक्षु को एक वेषधारी साधु मिला। वह उन्हें एकान्त में ले गया। कुछ समय तक उनमें बातचीत हुई। फिर वे लौट आए। मुनि हेमराजजी वहां खड़े थे। उस साधु के जाने के बाद उन्होंने प्रश्न किया—‘स्वामीनाथ! उसने आपसे क्या पूछा?’ आचार्य भिक्षु बोले—‘उसने अपने दोषों की आलोचना की थी।’ मुनि हेमराजजी ने दूसरा प्रश्न किया—‘उसने किन दोषों की आलोचना की?’ इस पर आचार्य भिक्षु ने कहा—‘मैं नहीं बता सकता।’

एक ओर वेषधारी साधु, दूसरी ओर अपना प्रिय शिष्य। आचार्य भिक्षु जानते थे कि वेषधारी साधु विरोधी खेमे का है। फिर भी उसने उनका विश्वास किया। वह आत्मशोधन के लिए उनके पास आया। ऐसी स्थिति में उसके रहस्य का उद्घाटन करना उनकी दृष्टि में उचित नहीं था। रहस्य के बारे में जिज्ञासा करने वाले उनके अत्यन्त कृपापात्र शिष्य थे। उनके प्रति रागभाव से वे उन्हें कुछ भी बता देते तो सामने वाले व्यक्ति के विश्वास की सुरक्षा नहीं होती। आचार्य भिक्षु की तीसरी आंख—समता की आंख खुली हुई थी। इसी कारण वे पूर्णतः तटस्थ रहे।

अनुशासन कब और कहां ?

अनुशासन कब करना ? कैसे करना ? और किस पर करना ? आचार्य भिक्षु इस मनोविज्ञान से परिचित थे। अधीर व्यक्ति पर कठोर अनुशासन का प्रयोग कर दिया जाए तो लेने के देने पड़ सकते हैं। इस सन्दर्भ में एक दोहा प्रसिद्ध है—

काच कथीर अधीर नर, कस्यां न उपजै प्रेम।
कसणी तो धीरा सहै, कै हीरा कै हेम॥

काच, रांगा (जस्ता) धातु और अधीर व्यक्ति को अधिक कसने से वे अनुकूल नहीं होते, काम के नहीं रहते, चटक जाते हैं। कसाव को सहने वाले तीन ही हैं—धैर्यवान व्यक्ति, हीरा और सोना।

अधीर व्यक्ति थोड़ी-सी प्रतिकूलता में ही अपना परिचय दे देता है। आत्महत्या और घर से पलायन करने की अनेक घटनाओं का सम्बन्ध अधीरता के साथ है। जिस व्यक्ति में धृतिबल नहीं होता, वह बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाता है। उत्तेजना या आवेश की स्थिति में विवेक सो जाता है। वह अपने करणीय और अकरणीय के बीच भेदरेखा नहीं खींच पाता। उस समय हितैषी लोगों का परामर्श भी उसे रुचिकर नहीं लगता। इसी कारण जीवनयात्रा में दुर्घटनाएं होती रहती हैं।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन के विशेष प्रयोग ऐसे लोगों पर किए, जो धृति-संपन्न थे। पीपाड़ का एक प्रसंग है। आचार्य भिक्षु वहां प्रवास कर रहे थे। प्रवास के लिए उपलब्ध दुकानें छोटी-छोटी थीं। एक दुकान में आचार्यश्री विराज रहे थे। दूसरी दुकान में मुनि वेणीरामजी थे। आचार्य भिक्षु ने वेणीराम! वेणीराम! ओ वेणीराम! इस प्रकार तीन बार पुकारा। पर उनकी ओर से कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला

आचार्यश्री की उपासना में गुमानजी लुणावत बैठे थे। उन्होंने उनसे कहा—‘लगता है, वेणा संघ से अलग होगा।’ गुमानजी तत्काल मुनि वेणीरामजी के पास पहुंचकर बोले—‘स्वामीजी ने आपको पुकारा और आप बोले नहीं।’ इस पर स्वामीजी ने कहा—‘लगता है वेणा संघ से अलग होगा।’

यह बात सुनते ही मुनि वेणीरामजी भयभीत हो गए। वे अविलम्ब आचार्य भिक्षु के पास आए और उनके चरणों में प्रणत हो गए।

आचार्य भिक्षु बोले—‘अरे मूर्ख! पुकारने पर वापस बोलता नहीं है?’ मुनि वेणीरामजी ने अत्यन्त विनम्रता के साथ निवेदन किया—‘गुरुदेव! मैंने सुना नहीं। आप महान हैं। मुझे क्षमा करे।’

मुनि वेणीरामजी के स्थान पर कोई दूसरा साधु होता, अधीर और असहिष्णु साधु होता तो कह सकता था—‘स्वामीजी! आपने धीरे-धीरे

पुकारा, मुझे सुनाई कैसे देता? मैंने सुना ही नहीं, इसमें मेरी क्या गलती है? इतनी छोटी-सी बात पर संघ से अलग करने जैसा क्या अपराध हो गया?’ किन्तु मुनि वेणीरामजी ने अपने प्रमाद का अनुभव कर जिस विनम्रता का परिचय दिया, सहज ही वह पंक्ति मुखर हो जाती है—‘कसणी तो धीरा सहै।’

ऐसे खुलती हैं आग्रह की गांठें

समूह में अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं। कुछ व्यक्ति विनम्र, समर्पित और अनाग्रही होते हैं तो कुछ उदण्ड, स्वेच्छाचारी और आग्रही भी हो सकते हैं। यह वर्गीकरण सामाजिक और राजनैतिक संगठनों में ही नहीं, धार्मिक संगठनों में भी संभव है। धर्म की साधना करने वाले व्यक्ति जब तक अपनी मंजिल तक नहीं पहुंच जाते, वीतराग नहीं बन जाते, तब तक वे राग-द्वेष के प्रकम्पनों से प्रभावित रहते हैं। जब तक ये प्रकम्पन सक्रिय रहेंगे, आग्रह की ग्रन्थि खुल नहीं पाएगी। जब सामूहिक जीवन में दो या उनसे अधिक व्यक्तियों के बीच में किसी बात को लेकर आग्रह हो जाता है, उसका परिणाम टूटने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इस बात को कुछ प्रतीकों के माध्यम से समझाया जा सकता है।

एक रस्सी के दो छोर होते हैं। दो व्यक्ति दोनों छोरों को पकड़ते हैं। वे उन्हें अपनी ओर खींचते हैं। खिंचाव इतना बढ़ता है कि रस्सी बीच में टूट जाती है। दोनों छोरों को खींचने वाले दोनों व्यक्तियों का सन्तुलन बिगड़ता है और वे गिर जाते हैं।

रस्सी के दो छोर दो व्यक्तियों के हाथों में हैं। दोनों उन्हें खींचते हैं। सहसा एक व्यक्ति के विचार बदलते हैं। वह दूसरे को परामर्श देता है कि वे खींचातान को छोड़कर आपसी बातचीत से समस्या का समाधान खोजें। दूसरा व्यक्ति इस बात को स्वीकार नहीं करता है। एक व्यक्ति अपनी ओर से रस्सी को छोड़ देता है। दूसरा व्यक्ति, जो कि अब भी रस्सी को अपनी ओर खींचता है, गिर जाता है।

रस्सी के दो छोर अपनी ओर खींचने वाले दोनों व्यक्ति थक जाते हैं। वे अपने हाथों में पीड़ा का अनुभव करते हैं। दोनों के विचारों में परिवर्तन

होता है। विवादास्पद मुद्दे को वार्तालाप से सुलझाने की मानसिकता बनती है। दोनों इस बात पर सहमत होते हैं। रस्सी को ढील देते हैं और आराम से बैठकर बात करते हैं। समस्या सुलझ जाती है।

विवाद का मुद्दा छोटा हो या बड़ा, आग्रह की स्थिति में वह उलझता ही है। दोनों ओर का आग्रह प्रबल होगा तो उसका दुष्परिणाम प्रथम प्रतीक की तरह दोनों को भोगना पड़ता है। आग्रह एकपक्षीय होता है तो दूसरे प्रतीक की तरह एक पक्ष का बचाव हो जाता है। जिस प्रसंग में दोनों पक्ष लचीले हो जाते हैं, आग्रह-मुक्त बन जाते हैं, वहां दोनों लाभ में रहते हैं।

आचार्य भिक्षु एक समूह का नेतृत्व करते थे। उनके सामने आग्रह के प्रसंग उपस्थित होते। वे अपने बुद्धिकौशल से समाधान के सूत्र खोज लेते। इसी कारण वे तनावमुक्त जीवन जीते थे। यहां दो प्रसंगों की चर्चा की जा रही है—

दो साधुओं में परस्पर विवाद हो गया। विवाद का विषय था—तुम्बे से पानी की बूंदों का नीचे गिरना। एक साधु तुम्बे में पानी लेकर आया। असावधानी से कुछ दूरी तक पानी नीचे टपकता रहा। दूसरे साधु ने उसको सावधान करते हुए कहा—‘तुम्हारे तुम्बे से इतनी दूर तक पानी टपका।’ दूसरा साधु बोला—‘तुम्बे से पानी टपका, यह बात सही है, पर तुम जो दूरी बता रहे हो, वह ठीक नहीं है।’ बात-बात में विवाद बढ़ गया। दोनों साधु आचार्य भिक्षु के पास गए। उन्होंने पूरी बात सुना दी। आचार्यश्री ने उनको समझाया, किन्तु वे अपने आग्रह पर अड़े रहे। आचार्यश्री ने कहा—‘तुम दोनों एक रस्सी ले जाओ और उस स्थान को माप कर आ जाओ।’ इस यौक्तिक समाधान से दोनों आग्रह छोड़ सीधे-सरल हो गए।

दो साधु परस्पर आग्रह करने लगे। एक ने कहा—‘तुम लोलुप हो।’ दूसरे ने कहा—‘तुम लोलुप हो।’ विवाद करते-करते वे आचार्य भिक्षु के पास पहुंचे। आचार्य भिक्षु जानते थे कि समझाने से आग्रह छूटेगा नहीं। उन्होंने एक प्रयोग करने की बात सोचकर कहा—‘तुम दोनों विगय (दूध, दही, घी, मिठाई आदि) खाने का त्याग करो। उसमें आज्ञा की छूट रखो। जो पहले खाने की आज्ञा मांगेगा, वह लोलुप होगा।’ साधुओं ने त्याग कर दिए।

एक साधु ने लगभग चार महीने तक विगय नहीं खाई। फिर उसने आज्ञा मांगी। तब दूसरे साधु के विगय खाने की छूट अपने आप हो गई। इस प्रयोग के बाद किसी को कुछ कहना नहीं पड़ा। वे अपने आप समझ गए।

जब तक साधना परिपक्व नहीं होती है, आग्रह के दुष्परिणामों को जानते हुए भी व्यक्ति आग्रही बन जाता है, पर आचार्य भिक्षु जैसे गुरुओं का दिशादर्शन उपलब्ध हो जाए तो व्यक्ति टूटने की स्थिति तक पहुंचने से पहले ही अपनी समस्या का समाधान पा लेता है।

छोटे किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रयोग

अनुशासन का प्रयोग मधुरता और कठोरता—दोनों प्रकार से हो सकता है। जैसी परिस्थिति और जैसे व्यक्ति सामने होते हैं, उसी रूप में अनुशासन किया जाता है। कभी-कभी छोटे-छोटे प्रसंग भी अनुशासन की दृष्टि से उल्लेखनीय उदाहरण बन जाते हैं। आचार्य भिक्षु के जीवन को पढ़ने से प्रतीत होता है कि उनकी अनुशासन-शैली भी विलक्षण थी।

आचार्य भिक्षु के परम कृपापात्र शिष्य मुनि भारीमालजी प्रसिद्ध प्रतिलिपिकार थे। उन्होंने आचार्य भिक्षु द्वारा लिखित समग्र साहित्य की बहुत सुन्दर प्रतियां लिखीं। उनके बचपन की घटना है—‘मुनि भारीमालजी प्रतिलिपि करते तब लेखनी बनवाने के लिए बार-बार आचार्य भिक्षु के पास जाते। बरू की लेखनी चाकू से छीलकर बनाई जाती है। लिखते-लिखते उसका मुंह घिस जाता है, तब उसे पुनः बनाने की अपेक्षा रहती है। मुनि भारीमालजी लेखनी स्वयं नहीं बनाते थे। आचार्यश्री ने सोचा—‘जब तक यह हाथ से लेखनी नहीं बनाएगा, लेखनी बनाना सीख नहीं सकेगा। एक दिन जब वे लेखनी बनवाने के लिए गए तो आचार्यश्री बोले—‘तुम्हारी लेखनी बनाने का त्याग है।’ उस दिन के बाद मुनि भारीमालजी अपने आप लेखनी बनाने लगे और धीरे-धीरे उस कला में निष्णात हो गए। आचार्य भिक्षु चाहते तो उन्हें लेखनी बनाने का आदेश भी दे सकते थे, किन्तु उन्होंने आदेश न देकर त्याग कर दिया, क्योंकि आदेश में प्रार्थना करने का अवकाश था। जब पीछे लौटने के सब रास्ते बन्द हो जाते हैं, तब आगे

बढ़ना अनिवार्य हो जाता है। आचार्य भिक्षु का यह प्रयोग अन्य सब मार्गों को बन्द करने वाला था।

वि.सं. 1855 की घटना है। पाली चातुर्मास में मुनि खेतसीजी अस्वस्थ हो गए। रात का समय था। बार-बार वमन और दस्त होने से वे रास्ते में मूर्च्छित होकर गिर पड़े। आचार्य भिक्षु स्वयं उठे। उन्होंने मुनि हेमराजजी को जगाया और दोनों उन्हें हाथ पकड़कर ले आए। आचार्यश्री बोले—संसार की माया विचित्र है। खेतसीजी जैसा मजबूत आदमी ऐसे हो गया। उन्होंने मुनि खेतसीजी को सुलाया और उन्हें सिरहाने से निकालकर नई चदर ओढ़ा दी।

कुछ समय बाद मुनि खेतसीजी सचेत हुए। वे कहने लगे—‘गुरुदेव! आप रूपांजी को अच्छी तरह पढ़ाना।’ साध्वी रूपांजी उनकी संसारपक्षीया बहन थी। आचार्य भिक्षु ने उनको प्रतिबोध देते कहा—‘तू भगवान का स्मरण कर। रूपांजी की चिन्ता क्यों करता है?’

आचार्य भिक्षु जितने आध्यात्मिक थे, उतने ही व्यावहारिक थे। जितने गंभीर तत्त्वज्ञानी थे, उतने ही विनोदप्रिय थे। सत्य की खोज में जितने अनाग्रही थे, सत्य की साधना में उतने ही आग्रही थे। शिष्य-लोलुपता से जितने निरपेक्ष थे, संगठन की मजबूती के लिए उतने ही सापेक्ष थे। अनुशासन के क्षेत्र में जितने कठोर थे, वात्सल्य की दृष्टि से उतने ही कोमल थे। कष्टों की उपस्थिति में वे जितने सहिष्णु थे, अन्याय या शिथिल आचार के प्रति उतने ही असहिष्णु थे। अनेक विरोधी युगलों का समवाय था उनका जीवन। उनके दर्शन को समझना जितना कठिन है, जीवन को समझना उससे भी कठिन है। उनके जीवन का पथ सीधा-सपाट नहीं था। वे टेढ़े-मेढ़े रास्ते से चले, ऊबड़-खाबड़ पथ पर आगे बढ़े और तमाम अवरोधों को पार कर मंजिल तक पहुंचे।

सीमाबोध और स्वावलम्बन

आचार्य भिक्षु साधु और गृहस्थ के बीच की सीमारेखा को जानते थे। और उसके अतिक्रमण को उचित नहीं मानते थे। किसी के द्वारा अनायास ही अतिक्रमण हो जाता तो वे तत्काल उसे प्रतिबोध दे देते थे। वि.सं. 1853

में उनका चातुर्मास सोजत था। वहां से विहारकर वे मांढा पधारे। उस समय तक मुनि हेमराजजी गृहस्थ थे। वे आचार्यश्री के दर्शन करने सिरियारी से मांढा आए। रात्रि के समय आचार्यश्री पोल के चबूतरे पर विराजे। हेमजी चबूतरे के नीचे खाट बिछाकर सो गए। उस समय आचार्य भिक्षु और कुछ साधु चातुर्मासिक क्षेत्रों और वहां जाने वाले साधु-साधवियों के सिंघाड़ों की चर्चा करने लगे। अमुक साधु को वहां भोजना, अमुक साधु को वहां भोजना इत्यादि। उस चर्चा में सिरियारी का नाम नहीं आया।

हेमजी सारी बात सुन रहे थे। सिरियारी की याद दिलाते हुए बोले—‘स्वामीनाथ! सिरियारी में किसी साधु-साध्वी को भेजने की बात ही नहीं की?’ आचार्य भिक्षु को उनकी वह पंचायती अच्छी नहीं लगी। उन्होंने हेमजी को कठोर शब्दों में उपालम्भ देते हुए कहा—‘तुम्हें साधुओं की बातचीत में बोलने की जरूरत ही क्या है?’ उसी समय साधुओं को सीख देते हुए वे बोले—‘गृहस्थों के सुनते हुए ऐसी बात करनी ही नहीं चाहिए।’

आचार्य भिक्षु की आस्था स्वावलम्बन में थी। गृहस्थ के भरोसे किए गए कार्य में कठिनाई उपस्थित होने पर उन्होंने साधुओं को नया बोधपाठ दिया। उस दिन आचार्य भिक्षु नीमली से विहार कर चेलावास पधार रहे थे। उन्होंने किसी से आगे का मार्ग पूछा। श्रावक जयचंदजी उनके साथ थे। वे बोले—‘स्वामीजी! मैं रास्ता जानता हूं? आप सुखे-सुखे पधारें।’ आगे वे आचार्यश्री को हरियाली में ले गए। मार्ग बन्द हो गया। आचार्य भिक्षु ने जयचंदजी से कहा—‘तू कहता था मैं मार्ग जानता हूं।’ जयचंदजी क्या कहें, वे रास्ता भूल गए थे। आचार्यश्री ने उस घटना से शिक्षा देते हुए कहा—‘गृहस्थ के भरोसे नहीं रहना चाहिए।’

सिंह जैसा पराक्रमी नेतृत्व

कोई भी संगठन सबल है या निर्बल, यह उसके सदस्यों को देखकर नहीं कहा जा सकता। संगठन की शक्ति उसके नेता पर निर्भर करती है। नेता शक्तिशाली होता है तो साधारण लोगों में प्राण भर देता है। नेता अक्षम होता है तो शक्तिसंपन्न अनुयायी भी घुटने टिका देते हैं। सेना की सफलता

सेनापति से जुड़ी हुई है। सेनापति का मनोबल गिर जाए तो बहुत बड़ी सेना पराजित हो सकती है। कूटनीतिज्ञों ने इस सत्य का बार-बार अनुभव किया है।

एक सेनापति हताश और उदास होकर बैठा था। पत्नी ने उदासी का कारण पूछा। सेनापति बोला—‘बहुत बुरे संवाद मिले हैं।’ पत्नी की जिज्ञासा पर वह बोला—‘संवाद ये हैं कि युद्ध में मेरी सेना हारती जा रही है।’ यह बात सुन पत्नी बोली—‘मैंने जो संवाद सुने हैं, वे इनसे भी बुरे हैं।’ क्या सुना है तुमने?’ सेनापति ने व्याकुल होकर पूछा। पत्नी ने कहा—‘मैंने सुना है कि सेनापति अपना मनोबल हारते जा रहे हैं। अब तो विजय की सारी आशाएं धूमिल हो गई हैं।’ पत्नी के शब्दों से सेनापति को उत्तेजन मिला। उसने मनोबल जुटाया और सौगुने उत्साह के साथ युद्धभूमि में पहुंचा। अग्रिम मोर्चे पर सेनापति को देखते ही सेना में नए रक्त का संचार हो गया। वह उत्साहित होकर रणक्षेत्र में डट गई। पराजय की संभावना विजय में बदल गई।

प्रश्न राजनीति या धर्मनीति का नहीं, प्रश्न है नेतृत्व का। नेता के मनोभावों का संक्रमण जनता में होता है। नेता का मनोबल दुर्बल होगा तो जनता को प्रतिकूल परिस्थितियों में खड़े रहने का आधार कहां से मिलेगा? इस स्थिति का गहराई से आकलन कर अंग्रेज लेखक टैल्लिरेंड ने लिखा है—एक सेना, जिसमें एक हजार सिंह हैं, पर उसका नेतृत्व एक भेड़ कर रही है, उस सेना की अपेक्षा मैं उस सेना से अधिक डरता हूं, जिसमें एक हजार भेड़े हैं, पर नेतृत्व करने वाला एक सिंह है।’

जिस सेना में सिंह के समान पराक्रमशाली सैनिक हों, किन्तु सेनापति भेड़ जैसा डरपोक हो तो उस सेना का कर्तृत्व कारगर नहीं हो सकता। इसके विपरीत सैनिक कितने ही कमजोर क्यों न हों, सेनापति का पराक्रम बुलन्दी पर रहता है तो वह सेना विपक्ष के छक्के छुड़ा देती है। सेनापति का मनोबल, सूझबूझ, शौर्य और साहस ही सही अर्थ में सेना को युद्धभूमि में रोककर रखने वाला है। इसीलिए सेनानायक को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

लक्ष्यनिष्ठा से उपजा अनुशासन

आचार्य भिक्षु एक धर्मसंघ के नेता थे। उनके नेतृत्व की शैली थी—**निज पर शासन: फिर अनुशासन**। तेरापंथ का इतिहास और उसका संविधान उनके कर्तृत्व का जीवन्त प्रतीक है। उनके पास अनुभवों की अखूट संपदा थी। केवल स्वप्नदर्शी होकर जीना उन्हें अभीष्ट नहीं था। वे यथार्थ की धरती पर खड़े रहकर ही भविष्य के रेखाचित्र में रंग भरने के लिए संकल्पित थे। सुविधावादी और आरामतलबी वाला जीवन जीना उन्हें अभीष्ट नहीं था। जीवन के संध्याकाल में भी वे खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करते थे। प्रवचन और गोचरी का श्रम वे आखिरी चातुर्मास्य-वि.सं. 1860 तक करते रहे। आचार की निर्मलता और विचारों की स्पष्टता से उनकी तेजस्विता बढ़ती रही। उनकी कष्ट-सहिष्णुता ने लोगों में उनके प्रति अप्रतिम आस्था का भाव जगाया। उनकी प्रत्युत्पन्न मेधा ने उनको चर्चा या वादविवाद के प्रत्येक प्रसंग में नया निखार दिया।

मर्यादा और अनुशासन आचार्य भिक्षु की संघीय चेतना के आधार थे। किसी भी मूल्य पर वे मर्यादाओं को कमजोर करने के पक्ष में नहीं थे। अनुशासन को उन्होंने संघ में कवच का मूल्य दिया। उन्होंने समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार सामूहिक और व्यक्तिगत स्तर पर नई मर्यादाओं का निर्माण किया। शिष्यों के व्यामोह या संख्याशक्ति में हास के भय से वे अनुशासन को शिथिल करने के पक्ष में नहीं थे। **मुहूर्त ज्वलितं श्रेयो न च धूमयितं चिरम्**—दीर्घकाल तक धुआं बनकर जीने की अपेक्षा वे अल्पकालिक ज्योतिर्मय जीवन को श्रेयस्कर मानते थे। धर्मक्रान्ति के नए पथ पर आए अवरोधों से वे विचलित नहीं हुए। **कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि**—करेंगे या मरेंगे, इन संकल्पों के साथ उन्होंने तपस्या एवं आतापना शुरू कर दी। उन्हें कल्पना नहीं थी कि उनकी यात्रा निर्बाध पूरी होगी और उनके सहयात्रियों की संख्या में वृद्धि होगी।

निराशा की स्थिति में अप्रत्याशित मोड़ आया। अन्धेरे में ज्योति के स्फुलिंग प्रकट हुए। कष्ट सहने का परिणाम आया। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य मुनि हेमराजजी को उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए कहा—

‘म्हे उणानै छोड्या जद पांच वर्ष ताई तो पूरो आहार न मिल्यौ। घी चौपड़ तो कठै। कपड़ो कदाचित वासती मिलती ते सवा रूपीया री तो भारमल कहतो—‘पछेवड़ी आपरै करो।’ मैं कहतो—एक चौलपटो थारै करो, एक म्हारै करो।’

‘आहार-पाणी जाच नै उजाड़ में सर्व साध परहा जावता। रूखरा री छायां तो आहार-पाणी मेल ने आतापना लेता, आथण रा पाछा गाम में आवता।’

‘इण रीते कष्ट भोगवता। कर्म काटता। म्है या न जाणता म्हारो मारग जमसी, नै म्हां में यूं दीक्षा लेसी, नै यूं श्रावक-श्राविका हुसी।’

‘जाण्यो आत्मा रा कारज सारसां, मर पूरा देसां, इम जाण नै तपस्या करता। पछै कोइ-कोइ रै सरधा बेसवा लागी। समझवा लागी। जद थिरपालजी फतेचन्दजी आदि मांहिला साधां कहुँ—लोग तो समझता दीसै है। थें तपस्या क्यूं करौ। तपस्या करण में तो म्हें छां ईज। थें तो बुद्धिमान छो, सो धर्म रो उद्योत करौ। लोकां ने समझावौ। जद पछै विशेष खप करवा लागी। आचार-अनुकंपा जोड़ां करी, व्रत-अव्रत री जोड़ां करी। घणां जीवां ने समझाया पछै बखाण जोड्या।’

—हमने उनको (आचार्य रुघनाथजी को) छोड़ा तब पांच वर्ष तक हमें पूरा आहार भी नहीं मिला। घी और चिकनाई की तो बात ही कहां? वस्त्र के रूप में कभी-कभी बासती मिलती। उसके थान की कीमत सवा रुपया थी। भारमल कहता—‘आप इसका उत्तरीय (पछेवड़ी) करें। तब मैं कहता—‘एक चोलपट्टा तुम करो और एक मेरे लिए करो।’

हम सब साधु गोचरी में आहार, पानी लाकर जंगल में चले जाते। आहार-पानी को वृक्षों की छांह में रखकर हम सूर्य का आतप लेते। शाम को गांव में लौट आते। इस प्रकार हम कष्ट सहते थे। कर्म-बन्धन को तोड़ते थे।

हम ऐसा नहीं जानते थे कि हमारा मार्ग जमेगा और हमारे संघ में इस प्रकार स्त्री-पुरुष दीक्षा लेंगे और इस प्रकार श्रावक-श्राविका होंगे।

हमने सोचा था—आत्मा का कार्य सिद्ध करेंगे, अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्राण न्योछावर कर देंगे। यह सोचकर हम तपस्या करते थे। बाद में कोई-कोई व्यक्ति हमारे सिद्धांतों में विश्वास करने लगा। तत्त्व को समझने लगा।

तब थिरपाल, फतेहचन्द आदि हमारे साथ वाले साधुओं ने कहा—‘लगता है लोग तत्त्व को समझेंगे। फिर आप इतनी कठोर तपस्या क्यों करते हैं। यह तपस्या करने के लिए तो हम हैं ही। आप बुद्धिमान हैं। आप धर्म का उद्योत करें, लोगों को तत्त्व समझाएं। उसके बाद विशेष पुरुषार्थ करने लगे। हमने आचार और अनुकंपा की चौपइयां रचीं, व्रत-अव्रत की चौपई रची। बहुत लोगों को तत्त्व समझाया। फिर व्याख्यानों की रचना की।

संघ को दीर्घजीवी बनाने का उपाय

आचार्य भिक्षु का आत्मानुशासन प्रबल था। उनके आत्मानुशासन का आलोक पूरे धर्मसंघ को मिला। उनके जीवन में इस सन्दर्भ में थोड़ी भी कमी होती तो संघीय अनुशासन इतना सशक्त नहीं हो पाता। वही संघ वास्तव में संघ होता है, जहां आत्मानुशासन के आधार पर अनुशासन का प्रयोग होता है।

आचार्य भिक्षु द्वारा प्रवर्तित अनुशासन में न तो अधिनायकवाद का प्रभाव था और न किसी प्रकार के अहं का पोषण था। आचार्य की दृढ़ता और मर्यादाओं के प्रति जागरूकता मुख्यतः इन दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनके भीतर का अनुशास्ता जागता था। अन्यथा उनके भीतर लहराने वाला वात्सल्य का सागर गुरु रूप को ही उजागर करने वाला था। उनके सामने प्रश्न आया—‘आपका ऐसा संकरा मार्ग कितने वर्षों तक चलेगा?’ आचार्य भिक्षु बोले—‘सरधा आचार्य में सेंटा रहै। वस्त्र, पात्र, उपकरण री मर्यादा न लोपै, जटां तांइ मारग चोखो हालतौ दीसै है।’

‘आधाकर्मी थानक बंध्यां, वस्त्र, पात्र री मर्यादा लोप देवै, कल्प लोप नै रहिवो करै, जब ढीला पड़ै। अनै मर्यादा प्रमाणै चालै, जितरै ढीला न पड़ै।’

—जब तक सिद्धान्त और आचार में दृढ़ता रहेगी, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होगा, साधुओं के लिए (आधाकर्मी) स्थानक नहीं बनेंगे, तब तक मार्ग भलीभांति चलेगा।

अपने उक्त कथन को यौक्तिक ढंग से प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा—साधु के निमित्त स्थानक बनने, वस्त्र-पात्र आदि की मर्यादा का अतिक्रमण करने, विहारकल्प का उल्लंघन कर एक स्थान पर रहने से शिथिलता आती है। जब तक मर्यादा के अनुसार चलते हैं, तब तक शिथिलता नहीं आती।

नई जीवन-शैली के सूत्रधार

आचार्य भिक्षु कलैक्टिव फार्म—सामूहिक खेती की संस्कृति के पुरस्कर्ता थे। उन्होंने हजारों लोगों के मन में अपने आपको साधने की लौ जगा दी। वे लोकप्रियता की लहर पर बैठकर एक संघ के महानायक नहीं बने। उनकी साधना और तपस्या ने उनके प्रति लोक-आस्था को एक ठोस धरातल दिया। उन्होंने अपने अनुयायियों में नई दिशा लेने की आकांक्षा ही नहीं जगाई, उसे पूरा भी किया। उन्होंने अपने कर्तृत्व से लोगों का विश्वास अर्जित ही नहीं किया, उसे सुरक्षित भी रखा। राजनीति के क्षितिज पर चर्चिल में विश्व नेतृत्व की संभावना खोजने वाली अवधारणा में स्थिरता हो या नहीं, धर्मसंघों की परम्परा में आचार्य भिक्षु की नेतृत्व-क्षमता का दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता। काश! इन दो-तीन सदियों के धर्माचार्य उनके नेतृत्व को आदर्श मानकर कुछ सीख पाते। बिना लगाम के घोड़ों द्वारा खींचा गया रथ उत्पथ में जाकर टूट सकता है। इसी प्रकार कुशल नेतृत्व के बिना चलने वाले धर्मसंघ दिग्भ्रमित होकर अपने अस्तित्व के लिए खतरा उपस्थित कर सकते हैं।

आचार्य भिक्षु युगपुरुष थे। उनकी मां ने सिंह का सपना देखा था। उनके जीवन में सिंह जैसा पराक्रम स्फुरित था। उन्होंने धर्मसंघों के इतिहास में खामोशी की संस्कृति को तोड़ा। चालू परम्पराओं को एक नया मोड़ दिया। अपनी डाइनेमिक पर्सनेलिटी के द्वारा धर्म-संघ को सतत गतिशील रहने वाली दिशा दी।

उन्होंने धर्मसंघ में ऐसी व्यवस्था की, जिससे संघ के प्रत्येक सदस्य को विकास का उचित अवसर उपलब्ध होता है। किसी व्यक्ति की प्रतिभा का शोषण नहीं होता। सबकी योग्यता का उचित मूल्यांकन होता है और सबको सब प्रकार से निश्चिन्त होकर साधना करने का मौका मिलता है। उनकी अनुशासनशैली अनवरत संवाद-सर्जना की प्रतीक बनी हुई है। उनकी जीवंत-देशना की अनुगूंज हर युग को सुनाई देती रहे, इस दृष्टि से आयोजित भिक्षु चेतना वर्ष, एक सार्थक आयोजना है। आचार्य भिक्षु ने मर्यादा और अनुशासन को मूल्य देकर एक नई जीवनशैली का सूत्रपात किया था, उस जीवनशैली को जीने वाले अपने जीवन में नई रोशनी और नए स्पन्दनों का अनुभव कर सकते हैं।

6. तेरापंथ : बिखरते मूल्यों का समीकरण

तेरापंथ एक छोटा-सा धर्मसंघ। दो सौ तैंतीस वर्षों का इतिहास। जैन परम्परा में तेरापंथ के बाद कोई मान्यता प्राप्त व्यवस्थित धर्म सम्प्रदाय नहीं बना। वर्तमान में लगभग सात सौ साधु-साध्वियों का एक सुदृढ़ संगठन। काल की दृष्टि से अधुनातन और संख्या का अनुपात भी अन्य कई संगठनों की तुलना में बहुत सामान्य। फिर भी पूरे विश्व में चर्चा का केन्द्र। संगठन, व्यवस्था और अनुशासन की दृष्टि से बेजोड़। बात यहीं पूरी नहीं होती। जैनधर्म का पर्याय या जैनधर्म की पहचान बना यह यशस्वी धर्मसंघ प्रबुद्ध वर्ग की आंखों पर चढ़ा हुआ है।

‘तेरापंथ’ कोई स्वतन्त्र धर्म सम्प्रदाय है, यह जैन लोगों को मान्य नहीं था। एक उपसंप्रदाय के रूप में गिना जाने वाला संगठन एकाएक इतना उजागर कैसे हो गया ? यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर है इस संघ के नौवें अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी का जीवंत पुरुषार्थ और व्यापक दृष्टिकोण।

आचार्य तुलसी को विरासत में जो धर्मसंघ मिला था, वह विवादों के घेरे में खड़ा था। थली का विचित्र पंथ : तेरापंथ, दान-दया का विरोधी पंथ : तेरापंथ, बिल्ली चूहों को मारती हो, उस समय चूहों को बचाने में पाप मानने वाला पंथ : तेरापंथ आदि शीर्षकों में तेरापंथ की छिछले स्तर की व्याख्या सुनकर लोग भ्रान्त हो जाते। जिन क्षेत्रों में आचार्यवर का पदार्पण होता, प्रारंभ के दो-चार दिन भ्रान्तियों के निराकरण में पूरे हो जाते। समय और शक्ति का रचनात्मक उपयोग नहीं हो पाता। भ्रान्तियों का कुहासा छंटता, तब तक वहां से प्रस्थान की तैयारी हो जाती। एक तेजस्वी सूर्य का उदय होता, पर लोग आंख मूंद कर बैठ जाते। प्रकाश की दो-चार किरणें भी उन तक नहीं पहुंच पातीं।

कैसे बड़ा संघ का वर्चस्व

आचार्यश्री का व्यक्तित्व विलक्षण है। वे लीक पर रहते हुए लीक से हटकर सोचते हैं, लीक से हटकर चलते हैं और नई लकीरों का निर्माण भी करते हैं। उन्होंने सोचा—‘आचार्य भिक्षु के सिद्धान्त सार्वभौम और सार्वजनीन हैं। इनको सीधा परोसा गया तो लोगों को रुचिकर नहीं लगेगा। बेस्वाद व्यंजन की तरह से लोक चेतना को रंजित नहीं करेगा। इनको युगीन भाषा और शैली के प्रेम में फिट कर दिया जाए तो लोगों पर इनका सहज प्रभाव हो सकता है।’ चिन्तन, निर्णय और क्रियान्विति में विलम्ब को असह्य मानने वाले महापुरुष ही युग की धारा को मोड़ने में सफल होते हैं। आचार्यश्री ने आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों को जिस रूप में प्रस्तुति दी, विवादों का घेरा टूट गया। व्यंग्यों और उपहासों के बुलन्द स्वर कहीं शून्य में खो गए। चूहे-बिल्ली गहरी नींद में सो गए। तेरापंथ के प्रति जिज्ञासापूर्ण सद्भावना के युग का प्रारंभ हो गया। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान जैसे व्यापक अवदानों ने युग-चेतना को प्रभावित किया। तेरापंथ का वर्चस्व सर्वसम्मत हो गया।

तेरापंथ की मौलिक मर्यादाएं

एक छोटा-सा पंथ तेरापंथ तैजस की आराधना कर इतना तेजस्वी बना, इसका मूलभूत कारण है इसका संविधान। वि.सं. 1832 और वि.सं. 1859 के संविधान तेरापंथ धर्मसंघ के प्राण तत्त्व हैं। आचार्य भिक्षु ने चेतना के अतल गहराई में उतरकर संविधान का निर्माण किया। तत्कालीन साधु-संस्थाओं में श्रद्धा, आचार, अनुशासन और व्यवस्थापक कैसा है, इस बात का उन्हें गहरा अनुभव था। अपनी अनुभव संपदा का भरपूर उपयोग करते हुए उन्होंने संविधान लिखा। उसकी मुख्य धाराएं इस प्रकार हैं—

1. सब साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।
2. विहार चातुर्मास्य आचार्यश्री की आज्ञा से करें।
3. अपने-अपने शिष्य न बनाएं।
4. आचार्य योग्य व्यक्ति को ही दीक्षित करें। दीक्षित करने पर कोई अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दें।

5. आचार्य अपने गुरुभाई या शिष्य को उत्तराधिकारी चुनें तो सब साधु-साध्वियां सहर्ष स्वीकार करें।
6. श्रद्धा या आचार के बोल को लेकर गण में भेद न डालें। दलबन्दी न करें। आचार्य व बहुश्रुत साधु कहें वह मान लें अथवा केवलिगम्य कर दें।
7. गण में शुद्ध साधुपन सरधे, वह गण में रहे, किन्तु छल कपटपूर्वक गण में न रहे। जिसका मन साक्षी दे, भलीभांति साधुपन पलता जाने, गण में तथा अपने-आपमें साधुपन माने तो गण में रहे। किन्तु वंचनापूर्वक गण में न रहे।
8. गण में किसी साधु-साध्वी के प्रति अनास्था उपजे, शंका उपजे, वैसी बात न करें।
9. किसी साधु-साध्वी में दोष जान पड़े तो तत्काल उसे या आचार्य को जता दें, किन्तु उसका प्रचार न करें। दोषों को चुन-चुनकर इकट्ठा न करें।
10. किसी साधु-साध्वी को जाति आदि को लेकर ओछी जबान न बोलें।
11. गण के पुस्तक-पन्नों आदि पर अपना अधिकार न करें।
12. गण से बहिष्कृत या बहिर्भूत व्यक्ति से संस्तव न करें।
13. पद के लिए उम्मीदवार न बनें।

सामूहिक चेतना के आधारभूत तत्त्व

राष्ट्र, समाज, संस्थान या परिवार समूह चेतना के प्रतीक हैं। सामूहिक जीवन की सफलता के आधारभूत तत्त्व हैं—अनुसंधान, संगठन, व्यवस्था, सामंजस्य, पारस्परिक विश्वास, सहिष्णुता, मधुर व्यवहार और निस्पृह मनोवृत्ति। जीवनशैली सामूहिक हो और उसके आधारभूत तत्त्वों का विकास न हो तो समूह चेतना का सम्यक् विकास नहीं हो सकता। विघटित परिवार चरमराते जीवनमूल्यों की सजीव कहानी है। एक ही परिवार के कुछ सदस्य

साथ-साथ रहने में कठिनाई का अनुभव करते हों, वहां विश्व-परिवार व्यवस्था का सपना किस आधार पर खड़ा रह सकेगा? सभा-संस्थाओं में एक साथ काम करने वाले व्यक्तियों में रुचिभेद, विचारभेद, काम करने की पद्धति का भेद अस्वाभाविक नहीं है। एक दूसरे को समझने और सहने की क्षमता का विकास किए बिना किसी भी संस्थान के कार्यकर्ता निश्चिन्त होकर काम नहीं कर सकते।

समाज और राष्ट्र का दायरा बहुत व्यापक होता है। मनुष्य की स्वार्थ चेतना इतनी घनीभूत हो गई कि वह परार्थ और परमार्थ को भूलता जा रहा है। जहां 'स्व' को ही केन्द्र में रखकर चलना हो, वहां मूल्यां की चिन्ता कौन करेगा? मूल्यां के प्रति आस्था में विकास या हास हो सकता है, किन्तु आस्थाहीनता की संस्कृति में मूल्य कहां खड़े रहेंगे? मूल्यां की गिरावट को ध्यान में रखकर ही आज शिक्षा पद्धति में मूल्यां की चर्चा बल पकड़ रही है। मूल्यपरक शिक्षा को लेकर कितने परिसंवाद हो गए, कितनी परियोजनाएं बन गईं, पर उनकी निष्पत्ति से कोई संतुष्ट नहीं है। समस्या उलझती जा रही है। समाधान का सूत्र हाथ नहीं लग रहा है। समसामयिक अन्य समस्याओं की बढ़ोतरी से मौलिक समस्या ज्यों की त्यों रह जाती है। मुख्य तत्त्व गौण हो जाता है और गौण को मुख्यता मिल जाती है।

भिक्षु चेतना वर्ष के लिए एक उपक्रम

मनुष्य की आकांक्षा होती है कि वह तलहटी से शिखर तक पहुंच जाए। आकांक्षा के अनुरूप आचरण होने से ही व्यक्ति ऊर्ध्वारोहण करता है। आचरण की प्रेरणा का मूलभूत स्रोत है आस्था। कभी-कभी आस्थाशील व्यक्तियों के वचन भी व्यक्ति की दिशा बदल देते हैं। आचार्य भिक्षु व्यक्ति चेतना और समूह चेतना दोनों के प्रति समान रूप से आस्थाशील थे। एक ओर उन्होंने संघ में निरपेक्ष भाव से रहने का मार्ग सुझाया। इस सूत्र के द्वारा उन्होंने गुटबन्दी की रीढ़ तोड़ दी। दूसरी ओर आचार्य की आज्ञा के बिना एक कदम भी इधर-उधर न रखने का निर्देश देकर उन्होंने संघीय अनुशासन को पूरी दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित कर दिया।

आचार्य भिक्षु की अनुभव चेतना जागृत थी। सैकड़ों-हजारों साधु-साध्वियों के संगठन में व्यवस्था पक्ष को मजबूत रखने के लिए जिन मर्यादाओं की अपेक्षा होती है, थोड़े-से साधु-साध्वियों के लिए वैसी मर्यादाओं का निर्माण कर उन्होंने अपनी दूरदर्शिता को प्रमाणित कर दिया। तेरापंथ का संविधान वर्तमान परिस्थितियों में एक आदर्श संविधान है। युग की आंधी में बिखरते मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए इस संविधान का उपयोग किया जा सकता है। 'भिक्षु चेतना वर्ष' में आचार्य भिक्षु की चेतना को लोक जीवन में संक्रान्त करने का यह एक विशिष्ट उपक्रम हो सकता है।

आचार्य भिक्षु द्वारा लिखित संविधान को साधु-साध्वियों ने जितना अधिमान दिया, श्रावक-श्राविकाएं भी उसमें पीछे नहीं रहीं। श्रावक समाज की श्रद्धा और समर्पण भी अद्भुत है। संविधान की पालना में श्रावक समाज की ओर से उपेक्षा बरती जाती तो संभवतः संघ में बिखराव की स्थिति हो जाती। संघ से बहिष्कृत और बहिर्भूत साधु-साध्वियों को उसने कभी प्रश्रय और महत्व नहीं दिया। तेरापंथ धर्मसंघ आचार्य केन्द्रित संघ है। आचार्य भिक्षु के युग में श्रावकों की संख्या बहुत कम थी। अब उनकी संख्या कई लाख हो गई। उनके द्वारा आचार्य के आदेश-निर्देश की पालना और दृष्टि के आराधना में कहीं भी शैथिल्य परिलक्षित नहीं होता। धार्मिक अनुशासन की तरह ही उनके जीवन में सामाजिक और पारिवारिक अनुशासन बद्धमूल हो जाए तो 'भिक्षु चेतना वर्ष' की एक बड़ी उपलब्धि हो सकती है।

7. तेरापंथ : मौलिक उपलब्धियां

तेरापंथ धर्मसंघ एक उदितोदित धर्मसंघ है। इसने अपने उदयकाल में प्रारंभ से ही कुछ ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर लिया, जिसके आधार पर यह सदा उदीयमान रहा है और रहेगा। अपने अस्तित्व के दो सौ से अधिक वर्षों में अस्तंगत होने की अनेक विवशताओं के बावजूद इसके दुर्निवार उदय को कोई रोक नहीं पाया है। जिन व्यक्तियों और संगठनों ने इसके प्रतिरोध में अपना सिर उठाया, वे समय के साथ पीछे छूट गए। तेरापंथ धर्मसंघ अपने उदय तेज को प्रभासित करता हुआ समय के रथ पर आरूढ़ है। इसकी अप्रतिहत गति ने हर पिछड़ेपन को पीछे धकेल कर नई ज्योति का स्वागत किया है। इसकी क्रान्त चेतना ने विस्थापित मानवीय मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठा देने के लिए नया अभियान छोड़ा है और इसकी पोर-पोर में निहित संगठन-शक्ति ने संघर्षों से जूझने की क्षमता अर्जित की है।

हजारों-हजारों सूर्यों से अधिक तेजस्वी धर्म को लोक-जीवन में अवतरित करने का पावन संकल्प लेकर तेरापंथ धर्मसंघ के प्रथम अधिशास्ता आचार्य भिक्षु ने एक कंटकाकीर्ण अज्ञात पथ पर पदन्यास किया। उस समय किसी उपलब्धि विशेष की कल्पना का कोई आधार नहीं था, रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था। धीरे-धीरे पथ प्रशस्त हुआ। पथ में बिछे कांटों के बीच फूल खिले। फूलों की सौरभ ने पथिकों को आकृष्ट किया। उनके चरण आगे बढ़े। उन्होंने कांटों को बुहारना शुरू किया। बड़े कांटे हटा दिए गए। छोटे कांटे नीचे दब गए। मार्ग साफ हो गया। गति का अवरोध हट गया और उस पथ पर चलने वाले व्यक्तियों का समूह एक संगठन में आबद्ध हो गया, जो 'तेरापंथ' के नाम से विश्रुत हुआ।

विकास की सीढियों पर

‘तेरापंथ’ धर्मसंघ के प्रादुर्भाव का अपना इतिहास है। इसी प्रकार इसके विकास की पृष्ठभूमि में भी विलक्षण घटनाएं हैं। विकास की सीढियों पर आरोहण कर इसने संसार को खुले हाथों उस सत्य को बांटा, जिसे अधिगत कर वह अपने अस्तित्व को स्थापित कर सका। उसने दिया ही नहीं, बहुत कुछ पाया भी है। प्रस्तुत प्रस्तुति का सम्बन्ध उन्हीं उपलब्धियों से है, जो कुछ मौलिकता लिए हुए हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ की सबसे बड़ी उपलब्धि है सत्य शोध की वृत्ति। सत्य-संधित्सा साधना का पहला सूत्र है। साधना के क्षेत्र में वे व्यक्ति और संघ ही आगे बढ़ पाए हैं, जो हर परिस्थिति में सत्यसंधित्सु रहे हैं। इस वृत्ति से दृष्टिकोण की ऋजुता में निखार आता है, ऐकान्तिक आग्रह की भावना क्षीण होती है और हर तथ्य को सम्यक् रूप से समझने का मनोभाव जागृत होता है। अध्यात्म का समूचा विकास इसी भूमिका पर हो सकता है।

अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन भारतीय तत्त्वविदों की पकड़ में आया, पर उसका सांगोपांग विश्लेषण आचार्य भिक्षु ने जिस रूप में किया, वह बेजोड़ है। अहिंसा को परखने के लिए उन्होंने आगमों के एक-एक रहस्य का उद्घाटन किया और उस निगूढतम तत्त्व को व्यवहार के धरातल पर प्रस्तुत किया।

एक क्रान्तिकारी पृष्ठ

संघर्षों से जूझने की क्षमता तेरापंथ धर्मसंघ को अपने उदयकाल से ही प्राप्त है। इसके सामने आज तक जैसी परिस्थितियां उत्पन्न हुईं, साधारण व्यक्ति उनके सामने टिकने का साहस नहीं कर पाता, किन्तु जिसको जन्मघूंटी के साथ ही सहिष्णुता के संस्कार मिल जाए, वह कभी हार नहीं सकता। तेरापंथ संघ के आचार्यों ने जिस सूझबूझ और सहिष्णुता के साथ परिस्थितियों से लोहा लिया, वह इतिहास का एक क्रान्तिकारी पृष्ठ है।

सुदृढ़ संगठन तेरापंथ की विरल उपलब्धि है। संगठन के क्षेत्र में ऐसा कोई दूसरा उदाहरण नहीं है। एक आचार्य के नेतृत्व में संघ का संगठन पक्ष इतना सुदृढ़ है कि भयंकर तूफान भी इसे हिला नहीं सकते। एक सामाचारी

और एक निरूपण-पद्धति सुदृढ संगठन में ही फलित हो सकती है। इस एकसूत्रता के कारण ही दो सौ वर्षों के सारे संस्कार ज्यों-के-त्यों सुरक्षित हैं। आचार्य और संघ के पारस्परिक संबंधों में जो आत्मीयता है, वह अद्वैतवाद की कल्पना को साकार कर देती है। आचार्य के प्रति ऐसा हार्दिक समर्पण और अपने अनुयायियों के प्रति ऐसा आत्मिक वात्सल्य ही संघ की परम्परा को अविच्छिन्न रख सकता है।

संघ की सुव्यवस्था के लिए आचार्य भिक्षु ने जिन मौलिक मर्यादाओं का निर्माण किया, वह उनकी दीर्घदर्शिता का पुष्ट निदर्शन है। हर मर्यादा अपने-आपमें इतनी सधी हुई है कि उसकी उपयोगिता को कभी नकारा नहीं जा सकता। आचार्य भिक्षु ने मर्यादाओं के निर्माण, संशोधन और परिवर्तन का पूरा अधिकार वर्तमान आचार्य के हाथों में सौंपकर अपूर्व सूझबूझ का परिचय दिया। इससे अतीत और वर्तमान के मध्य एक सामंजस्य बना रहता है, जो किसी भी नए युग के प्रवर्तन काल में कठिनाई की प्रतीति नहीं होने देता।

प्रवहमान त्रिवेणी

तेरापंथ धर्मसंघ का साहित्य अपने-आपमें एक उपलब्धि है। आचार्य भिक्षु, श्रीमज्जयाचार्य और आचार्यश्री तुलसी की साहित्य-साधना साहित्य के क्षेत्र में एक कीर्तिमान है। प्रशासन की सम्पूर्ण जिम्मेदारी के साथ एक साहित्यिक आत्मा का पल्लवन इतिहास की विलक्षण-घटनाओं में एक है। इस साहित्यिक उपलब्धि की समीक्षा साहित्यकारों के लिए छोड़ दी जाए तो भी इस संदर्भ में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। आचार्य भिक्षु भगवान महावीर की वाणी के सफल भाष्यकार थे तो श्रीमज्जयाचार्य भिक्षु की साहित्य-चेतना के सक्षम टीकाकार थे। आचार्यश्री तुलसी ने इस पारम्परिक साहित्यधारा को उज्जीवित रखते हुए युग-बोध की नई विधाओं को भी अपनी सृजन-शक्ति से उपकृत किया। उन्होंने केवल साहित्य का ही निर्माण नहीं किया, साहित्यकारों का भी सृजन किया। इस साहित्यिक मूल्यांकन को यदि हम आगम-सम्पादन की दिशा में मोड़ दें तो वह एक नई शृंखला जोड़ देती है। गत 50 वर्षों से आगम-सम्पादन का काम जिस गति से हो रहा है, अनुपम है।

आचार्यश्री तुलसी का युग तेरापंथ धर्मसंघ के लिए बहुमुखी विकास का युग रहा है। इस युग में अध्यात्म और बौद्धिकता समानान्तर रूप से विकसित हुई है। शिक्षा, साधना और शोध की सतत प्रवहमान त्रिवेणी ने अज्ञान और मूढ़ता की परतों को उतारती हुई पारदर्शी चेतना का साक्षात्कार करवाया है। चेतना का तल जितना निर्मल होता है, उसकी सतह भी उतनी ही दीप्तिमान हो उठती है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्यश्री तुलसी ने आध्यात्मिक और बौद्धिक दोनों प्रकार के मूल्यों को प्रतिष्ठा देकर अपने संघ को आगे बढ़ाया। तरुण और बौद्धिक साधु-साधवियों की जो संगठित शक्ति आज तेरापंथ धर्मसंघ के पास है, अन्यत्र दुर्लभ है।

एक नैतिक क्रान्ति की फलश्रुति के रूप में अणुव्रत का आविर्भाव तेरापंथ धर्मसंघ की व्यापक उपलब्धि है। मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठान में अणुव्रत का जो योग रहा है, वह असाधारण है। एक नैतिक आन्दोलन के रूप में अणुव्रत की भूमिका को सार्वत्रिक सहमति प्राप्त है। एक श्रमिक की झोंपड़ी से लेकर देश के सर्वोच्च नागरिक राष्ट्रपति के भवन तक अणुव्रत की गूंज पहुंच चुकी है। इसके माध्यम से बहुत बड़ी नैतिक क्रान्ति की सम्भावना की जा रही है। किसी भी धार्मिक संस्था के पास आज ऐसा व्यापक उपक्रम नहीं है, जिनके द्वारा वह राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करने में अपना सक्रिय योगदान दे सके।

तेरापंथ धर्मसंघ के मौलिक उपलब्धियों का यह छोटा-सा शब्द-चित्र प्रस्तुत है। पर इन शब्दों की पृष्ठभूमि में रहे भाव-बोध का प्रतिबिम्ब निस्सीम है। उस निस्सीम को समझने और पाने का प्रयास व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी उपलब्धि है। इस उपलब्धि के द्वारा ही तेरापंथ की समग्र उपलब्धियों को विशद प्रस्तुति दी जा सकती है।

8. तेरापंथ : मर्यादा-महोत्सव की पृष्ठभूमि

मर्यादा महोत्सव तेरापंथ धर्मसंघ का विशिष्ट उत्सव है। यह उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता है। इससे नई प्रेरणा, नई ताजगी और नई शक्ति मिलती है। इस अवसर पर संघ के सैकड़ों-सैकड़ों बहिर्विहारी साधु-साध्वियां मिलते हैं, चिंतन करते हैं, निष्कर्ष खोजते हैं और आगामी वर्ष के लिए सम्बल पाते हैं। मर्यादा महोत्सव से पहले जिन दिनों साधु-साध्वियों की संख्या वृद्धि पर आने लगती है, वह समय वर्द्धमान महोत्सव कहलाता है। इस महोत्सव का प्रारम्भ कब हुआ? कैसे हुआ? खोज का विषय है। इसकी उपयोगिता को देखकर इसे व्यवस्थित रूप देने के लिए कोई चिन्तन हो तो यह भी ऐतिहासिक उपक्रम बन सकता है।

तेरापंथ धर्मसंघ का अपना इतिहास है। धर्मसंघों की लम्बी परम्परा में इसका अपना स्थान है। समकालीन धर्मों और दर्शनों का अध्ययन करने वाला हर विद्वान और जिज्ञासु व्यक्ति इसकी विशेषताओं से परिचित है। इस धर्मसंघ में समर्पित होने वाले साधु-साध्वियां विकास की संभावनाओं में जीते हैं और भावी जीवन की अस्थिरता से मुक्ति पा लेते हैं। वे जानते हैं कि तेरापंथ के आचार्य कितने ही व्यापक कार्यक्रम हाथ में लें, संघ के अन्तरंग सदस्यों की आशाओं, अपेक्षाओं को कभी नजरअन्दाज नहीं कर सकते। मर्यादा और अनुशासन की दृष्टि से कठोर नियंत्रण रखने पर भी उनके अन्तःकरण में करुणा का स्रोत बहता रहता है।

तेरापंथ धर्मसंघ की गति-प्रगति के पीछे कई कारण हो सकते हैं। उनमें एक अहम और महत्वपूर्ण कारण है सक्षम आचार्यों की परम्परा। आचार्य स्वयं सक्षम न हों तो वे अपने शिष्यों को विकास का रास्ता कैसे बता सकेंगे?

वे स्वयं अध्यात्म से पुष्ट न हों तो शिष्यों को पोषण कब तक दे सकेंगे? वही व्यक्ति दूसरों को कुछ दे सकता है, जो स्वयं भरा हुआ हो।

क्या मांगू?

मुसलमानों में एक फकीर हुआ है। उसका नाम था फरीद। एक बार गांव के लोग मिलकर उसके पास गए और बोले—‘फरीद! सम्राट अकबर तुम्हें बहुत मानता है। तुम्हारी बात को सम्राट टाल नहीं सकता। तुम अकबर के पास जाओ और गांव के लिए एक पाठशाला बनवाने का यत्न करो, क्योंकि बच्चों को पढ़ाना है। गांव में पाठशाला की व्यवस्था नहीं है। फरीद का मन नहीं था, पर गांव वालों का इतना आग्रह रहा तो वह गांव की फरियाद लेकर अकबर के सामने उपस्थित हुआ। जिस समय वह वहां पहुंचा, अकबर नमाज पढ़ रहा था। वह पीछे खड़ा हो गया। अकबर ने नमाज पूरी की। खड़ा हुआ और अपने दोनों हाथ ऊंचे करके बोला—‘अल्लाह! मेरा भला करना, मेरे धन को बढ़ाना, मेरे राज्य का विस्तार करना।’ फरीद ने यह सब कुछ सुना और बिना कुछ कहे ही वापस लौट चला। अकबर ने मुड़कर देखा कि फरीद आया है और बिना ही कुछ बात किए लौट रहा है। अकबर ने आवाज देकर पूछा— ‘कैसे आए हो? कैसे वापस चल पड़े?’ फरीद बोला—‘मैं आया था कुछ मांगने के लिए, लेकिन मैं देखता हूं कि तुम स्वयं मांग रहे हो तो मैं तुमसे क्या मांगू? एक फकीर, फकीर से क्या प्राप्त कर सकता है?’

महत्ता गुरुकुल की

जिन लोगों की अपनी लालसाएं बढ़ती रहती हैं, जिनके पास जो कुछ है, उससे उनको संतोष नहीं है, वे दूसरों को कैसे दे सकते हैं? हमारे धर्मसंघ के आचार्य इतने सक्षम हैं कि अगर वे अपने मुक्त हाथों से बांटते ही जाएं, बांटते ही जाएं तो भी उनके पास इतना काफी संबल है कि वह कभी चुकता नहीं है। उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। इसलिए हमारे धर्मसंघ के साधु-साध्वियां ही नहीं, श्रावक-श्राविकाएं भी जब कभी उन्हें अवकाश मिलता है, अवकाश न भी मिले तो समय निकालकर आते हैं। हजारों-हजारों मीलों से इसलिए आते हैं कि उन्हें संबल प्राप्त हो, विशेष ताजगी मिले।

हमारे आचार्यों ने कहा है कि संघ अपने आपमें एक विशिष्ट उपक्रम है। जो व्यक्ति संघ में रहते हैं, वे विपुल निर्जरा के भागी होते हैं, क्योंकि उनके जीवन में कुछ बातों का बराबर ध्यान रखा जाता है। सारणा, वारणा और प्रेरणा—ये तीन बातें अद्भुत हैं। जहां भी संघ के सदस्य अच्छा काम करते हैं, अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्रगति करते हैं, उन्हें अपने आचार्य का प्रोत्साहन मिलता है, सारणा मिलती है। जहां कहीं भी वे छद्मस्थता के कारण गलत कदम उठाते हैं, उन्हें तत्काल रोक दिया जाता है। तीसरी बात है प्रेरणा। उन्हें निरंतर प्रेरणा मिलती रहती है कि तुम्हें यह काम करना है, वह काम करना है, किस प्रकार आगे बढ़ना है। इस प्रकार की प्रेरणा पाकर धर्मसंघ सजीव हो उठता है और उत्तरोत्तर गति करता है। वैसे तो हमारे साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाएं कहीं भी रहते हैं, उन्हें आचार्यप्रवर का संबल मिलता रहता है, लेकिन गुरुकुलवास का अपना विशेष महत्त्व होता है। चूर्णिकार ने लिखा है—व्यक्ति अगर समूह में नहीं रहता है, गुरुकुलवास में उपस्थित नहीं होता है तो उसके जीवन में कितनी ही समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि वह किसी भी प्रकार की अपूर्वता को प्राप्त नहीं कर सकता। जो कुछ उसने आज तक जाना है, उसी रूढ़ि का निर्वाह करता रहेगा। हमारे जीवन में, हमारी साधना में, हमारी चर्या में और भी कुछ विशिष्ट हो सकता है, यह बात न तो वह सोचता है और न कर सकता है। दूसरी बात यह है कि किसी के मन में किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न होता है, व्यवहार की बात को लेकर, सैद्धान्तिक बात को लेकर या जीवन की किसी समस्या को लेकर भी, गुरु के बिना उसका समाधान कौन कर सकता है? वह अपने संदेहों का निराकरण भी नहीं कर पाता। वह कितना भी अच्छा काम करे, उसका उत्साह कौन बढ़ाए?

इससे आगे एक बात और है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी संगत प्रतीत होती है। समूह में रहने वाले कुछ साधु लेखन का काम कर रहे हैं, कुछ वक्तव्य दे रहे हैं, कुछ दूसरी-दूसरी तैयारियों में लगे हैं। जो भी इस बात को देखते हैं, उनके मन में उत्साह उत्पन्न होता है कि हमें भी कुछ करना चाहिए। हमें भी कुछ सीखना चाहिए। अगर किसी को ऐसा करते नहीं देखते हैं तो उस

व्यक्ति का उत्साह क्षीण हो जाता है, कुछ करना चाहकर भी वह कुछ कर नहीं पाता। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि प्रतिवर्ष साधु-साध्वियों को यह पावन अवसर मिले और उनको विशेष संबल मिले, विशेष खुराक मिले।

एक बात को और विशेष रूप से ध्यान में रखना है। गुरुकुलवास में हमारा रहना तभी सार्थक हो सकता है जब हम अपने गुरु के प्रति संपूर्ण समर्पण रखें। गुरु के वचनों में हमारी गहरी निष्ठा, गहरी आस्था हो और जो कुछ भी हमें यहां मिले, उसे ऐसा पाथेय बनाकर चलें कि अग्रिम वर्ष में हम अपने जीवन की समस्त बाधाओं को निरस्त कर उत्तरोत्तर आगे बढ़ते जाएं। यदि ऐसा नहीं होता है तो गुरुकुलवास में भी रहने से कुछ नहीं होता। आचार्यों ने कहा है कि जिस व्यक्ति का गुरु के प्रति समर्पण नहीं होता, आस्था नहीं होती, गुरु के प्रति भक्ति और बहुमान नहीं होता, गौरव का अनुभव नहीं होता कि मुझे ऐसे सक्षम आचार्य का नेतृत्व मिला है और इसके साथ यह अनुभव नहीं होता कि मैं गलत काम करूंगा, अनुचित काम करूंगा और यह बात गुरु के पास पहुंच गई और गुरु इसके लिए उपालम्भ देंगे तो मेरी क्या स्थिति होगी? यह सब कुछ नहीं होता है तो गुरुकुलवास में रहे या न रहे, कुछ अंतर नहीं पड़ता है। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने को, अपने शरीर को, अपनी भावनाओं को आचार्य के चरणों में समर्पित रखें, अपने आपको पूर्ण समर्पित रखें। हमें कोई भी निर्देश मिले, कोई भी कार्यक्रम मिले, उसकी क्रियान्विति के लिए अपने आपको खपा दें।

दो विशेष काम

हम अपने धर्मसंघ की गरिमा को शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते। दूसरे-दूसरे सम्प्रदायों के प्रबुद्ध एवं विशिष्ट लोग भी इस बात का अनुभव करते हैं कि तेरापंथ धर्मसंघ जैसा गरिमामय धर्मसंघ अपने आपमें विशिष्ट है। भगवान महावीर निर्वाण शताब्दी में दरियागंज में एक कार्यक्रम था। उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्दजी ने हजारों-हजारों लोगों की उपस्थिति में कहा था—जब तक हम तेरापंथ धर्मसंघ की एकसूत्रता को नहीं अपना पाते हैं, तब तक न तो अपना ही कल्याण कर सकेंगे और न अपने श्रावकों को ही कुछ दे सकेंगे। उन्होंने आगे कहा कि आचार्यश्री तुलसी के दो काम विशेष रूप से

आकर्षित करने वाले हैं। एक काम है, मुनिश्री नथमलजी जैसे साधुओं को इस प्रकार से निर्मित करना, जो आज के विश्व की समस्याओं को बौद्धिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार से निरस्त कर सकते हैं। एक आचार्य अपने शिष्यों को इस प्रकार से निर्मित करते हैं तो मानना चाहिए कि उनकी क्षमता बेजोड़ है और दूसरी बात उन्होंने कही कि आचार्यश्री ने अणुव्रत का जो कार्यक्रम दिया है, वह बहुत व्यापक है। यद्यपि वह जैन धर्म के सिद्धांतों को सर्व-जनहिताय प्रस्तुत करने का सामयिक कार्यक्रम है, लेकिन ऐसा कार्यक्रम हमारे जैन सम्प्रदायों में से किसी भी सम्प्रदाय के पास नहीं है।’

वर्द्धमान महोत्सव का कार्यक्रम हो या मर्यादा-महोत्सव का, हमारा एक ही लक्ष्य होना चाहिए कि हम जिस उद्देश्य से इस धर्मसंघ में प्रविष्ट हुए हैं, उस उद्देश्य के प्रति सचेत हैं या नहीं? अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि करने के लिए जागरूक हैं या नहीं? हमारी प्रवृत्तियां ऐसी हों, जिससे यह धर्मसंघ गौरवान्वित हो। मैं सोचती हूं कि हम ऐसा करके वर्द्धमान महोत्सव की नींव को और गहरी कर सकते हैं।

9. तेरापंथ : मर्यादित धर्मसंघ

मर्यादा तेरापंथ धर्मसंघ का प्राण है। धर्मसंघ की प्रत्येक गतिविधि मर्यादा-संबलित है। मर्यादा की नींव पर ही संघ का प्रासाद खड़ा हुआ है। मर्यादाहीन युग के सामने मर्यादा का यह महत्व एक प्रश्नचिह्न उपस्थित कर रहा है। क्या स्वतंत्रता के इस युग में भी कोई व्यक्ति मर्यादा या अनुशासन का बंधन स्वीकार कर सकता है? वर्तमान के मनोवैज्ञानिक उस शासन-तंत्र को उत्कृष्ट मानते हैं, जहां कानून कम से कम हों। राजनीति में भी जब अनेक कानूनों को कृतार्थ मान कर उन्हें हटाने का प्रयत्न हो रहा है तब धर्मनीति के साथ कानून (मर्यादा) की प्रतिबद्धता क्यों रहती है? प्रश्न स्वाभाविक है। आचार्यवर द्वारा रचित पंचसूत्रम् में भी इस प्रश्न को उठाकर कहा गया है—

मुक्तये साधवो जाता बन्धनच्छिन्नये प्रभो!

बंधनान्यपि साधुत्वे यदि स्युर्विस्मयो महान्।।

प्रभो! हम बंधन से मुक्त होने के लिए, बंधन को तोड़ गिराने के लिए साधु बने हैं। साधु-जीवन में भी यदि बंधन होंगे तो इससे अधिक, आश्चर्य क्या होगा? ऊपर-ऊपर से अवगाहन करने पर बात सही प्रतीत होती है, पर इस विषय की गहराई में प्रवेश किया जाए तो पता चलता है कि साधु जीवन में बंधन नाम की कोई चीज है ही नहीं। एक दृष्टि से देखा जाए तो साधुत्व अपने आपमें बंधन है। साधु होने का अर्थ है यह मत करो, वह मत करो आदि, किंतु यह बंधन उन लोगों के लिए है, जिन्हें इस पथ पर चलने के लिए बलात् अग्रसर किया जाता है। जो साधक अपनी इच्छा से इस पथ को स्वीकार करता है और उस पथ में संभावित सभी बाधाओं से जूझने के लिए तत्पर रहता है। वह उसे विवशता नहीं मानता। मर्यादाएं बंधन वहां बनती हैं, जहां आत्मानुशासन विकसित नहीं होता। आत्मानुशासित व्यक्ति संयम को

छोड़कर असंयम की ओर बढ़ ही नहीं सकता, क्योंकि असंयम में उसे अपना अहित दिखाई देता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर नीतिकार ने कहा है—

आपदां कथितः पन्थाः इन्द्रियाणामसंयमः।

तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

इन्द्रियों का असंयम विपदाओं का पथ है। सम्पदा का मार्ग है—इन्द्रिय-संयम और असंयम में से जो मार्ग तुझे अनुकूल लगे, उसी पर चल।

उक्त पद्य में संयम की निष्पत्ति हितप्रद मानी गई है। संयम के अभाव में व्यक्ति या समाज कोई भी अपना हित सम्पादित नहीं कर सकता। संयम, मर्यादा, अनुशासन, कानून, नियम ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाहक हैं। जब एक व्यक्ति भी अमर्यादित रहकर स्वस्थ जीवन नहीं जी सकता तब समाज का तो कहना ही क्या? सफल समाज वही हो सकता है, जो मर्यादाओं के सुदृढ़ कवच को पहनकर युग के हर तूफान को झेलने के लिए कटिबद्ध रहे।

संभावनाओं का राज

तेरापंथ धर्मसंघ के आद्यप्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु की सूझबूझ को आज वे सब दाद देते हैं, जो उनके बारे में थोड़ी भी जानकारी रखते हैं। उन्होंने उस युग में अपने धर्मसंघ को मर्यादाओं के मजबूत धागों से बांधा, जिस युग में धर्मसंघों में आंतरिक विशृंखलता बढ़ती जा रही थी। थोड़े-से साधुओं की व्यवस्था की दृष्टि से उन्होंने जो धाराएं निर्धारित कीं आज वे सैकड़ों प्रबुद्ध साधु-साध्वियों की एकसूत्रता का कारण बन गईं। आचार्य भिक्षु द्वारा निर्धारित उन मर्यादाओं को सुनियोजित किया श्रीमद् जयाचार्य ने। मर्यादा-महोत्सव का व्यवस्थित सूत्रपात जयाचार्य के युग की देन है। आज एक ओर राजनैतिक उथल-पुथल और अस्थिरता से देश के भविष्य की नाव डांवाडोल हो रही है तो दूसरी ओर अणुव्रत अनुशास्ता युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के सक्षम नेतृत्व में तेरापंथ संघ का भविष्य उज्ज्वलता की सम्पूर्ण संभावनाओं के साथ दमक रहा है। इन संभावनाओं का कोई राज है तो वह है अनुशासन, व्यवस्था और मर्यादा।

जिस देश या समाज को प्रगतिशील बने रहना है, उसे अनुशासन, व्यवस्था और कानून का हृदय से पालन करना होगा। थोपा हुआ अनुशासन आरोपित व्यवस्थाएं और हृदय से अस्वीकृत कानून किसी भी समाज या देश में सही परिवर्तन नहीं ला सकता। जिस देश के बच्चे-बच्चे में राष्ट्रीयता की भावना होगी, राष्ट्रीय विकास की तड़प होगी, राष्ट्र-सुरक्षा की जिम्मेवारी निभाने का उत्साह होगा और असामाजिक तत्त्वों के प्रति खुलकर विद्रोह करने की क्षमता होगी, वह देश अपने नागरिकों को कभी भी अनिश्चित नहीं रहने देगा। लेकिन यह सब तभी हो सकता है, जब बचपन से ही अनुशासित, मर्यादित और संयत जीवन जीने का प्रशिक्षण मिलता रहे। प्रशिक्षण के साथ-साथ बच्चों को वैसा वातावरण मिले, जिससे वे प्राप्त प्रशिक्षण का अपने जीवन में प्रयोग कर सकें। प्रयोग के अनन्तर जो परीक्षण होगा वह असंदिग्ध रूप से फलदायी सिद्ध होगा।

इन सब संदर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मर्यादा बंधन नहीं, विवेक है। मर्यादाहीन व्यक्ति विवेक के अभाव में करणीय को छोड़ देता है और अकरणीय को कर बैठता है। जबकि मर्यादा की सीमा-रेखा में चलने वाला व्यक्ति क्षण-क्षण अपने विवेक-जागरण का अनुभव करता है। तेरापंथ धर्मसंघ का मर्यादा-महोत्सव आज के युग में इसीलिए आकर्षण का विषय बना हुआ है कि वह व्यक्ति को विवेक देता है, चिंतन देता है, संतुलन देता है और देता है चेतना जागृति का वातावरण। जो व्यक्ति एक बार भी उस वातावरण में रह लेता है, एक प्रकार से कृतकृत्य हो जाता है, क्योंकि उसे जीवन की सही दिशा उपलब्ध हो जाती है। जीवन के चौराहे पर भटके हुए लोगों के लिए मर्यादा-महोत्सव एक प्रकाश स्तम्भ है और मर्यादाएं दिशासूचक यंत्र हैं। उस प्रकाश और यंत्र का उपयोग जो भी करेगा, अपनी मंजिल तक पहुंच जाएगा।

10. तेरापंथ : अकल्पित कल्पना

भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पूर्व धर्म की जिस परम्परा का सूत्रपात किया वह आगे चलकर 'जैनधर्म' के नाम से विश्रुत हो गई। जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। इसमें युग-चेतना को ऊर्ध्वारोहण करने की क्षमता है। इसने मानसिक संकीर्णताओं के कटघरे का तोड़कर धर्म को व्यापक सन्दर्भ में प्रस्तुति दी है। इसकी पृष्ठभूमि में किसी रूढ़ क्रियाकाण्ड का व्यामोह नहीं, किन्तु एक जीवन्त दर्शन है। 'तेरापंथ' इसी जैनधर्म की क्रान्तिमूलक परिणति है। इसके आद्य प्रणेता आचार्य भिक्षु किसी दूसरे दर्शन से अनुबन्धित नहीं थे। जैनधर्म में उनकी अटूट आस्था थी। उस आस्था को वे किसी भी मूल्य पर विखण्डित देखना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने धर्म-परम्पराओं के साथ जनमते हुए और पनपते हुए दोषों को लेकर बगावत की। उनकी बगावत को कुचलने का तीव्रतम प्रयत्न हुआ, किन्तु वे झुके नहीं। उनके पथ में तीखे-तीखे कांटे बिछा दिए गए, पर वे रुके नहीं। आखिर उनकी धर्म-क्रान्ति सफल हुई और उसने तेरापंथ धर्मसंघ को जन्म दिया।

धर्मसंघ का प्राण

तेरापंथ कोई जैन से विच्छिन्न परम्परा नहीं है। यह इसी परम्परा को आगे बढ़ाने वाला एक सुनियोजित, सुसंगठित और अनुशासित धर्मसंघ है। इसके सम्पूर्ण नियोजन की जिम्मेवारी एकमात्र आचार्यप्रवर पर होती है। स्वतंत्र चिन्तन और मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देने वाले इस युग में एक नेतृत्व की बात विस्मित करने वाली है। इसका संगठन सुदृढ़ है, क्योंकि हर व्यवस्था साधार है। अनुशासन इस धर्मसंघ का प्राण है। संघ का छोटा-बड़ा हर सदस्य अनुशासन के धागे से इस प्रकार बंधा हुआ है कि वह अपने आचार्य से हजारों मील दूर रहकर भी उसी धागे से संचालित रहता है। इस

धर्मसंघ में साधना करने वाले साधु-साध्वियों के पास न कोई शिष्य-शिष्या है और न ही है कोई अधिकृत स्थान। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की अन्तिम ऊंचाई का स्पर्श करना उनका उद्देश्य है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे पदयात्रा करते हैं। अपना सामान कंधों पर रखकर चलते हैं। सहज माधुकरी वृत्ति से अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह करते हैं और स्वावलम्बी होकर रहते हैं।

खुला है द्वार

तेरापंथ धर्मसंघ को बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया, वह स्वयं बन गया। इसका नामकरण किया नहीं किया गया, स्वयं हो गया। इसके अस्तित्व में आते ही जैनधर्म की कुछ नई स्थापनाएं लोगों के सामने आईं। लोकैषणा के मंच को छोड़कर इसने कुछ पारलौकिक दृष्टियां दीं। लोकधर्म और अध्यात्मधर्म का तटस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। सदियों से चली आ रही धारणाओं के विपरीत नई धारणाओं को उपस्थित कर तेरापंथ ने अपने उदयकाल में ही एक दुःसह संघर्ष से टक्कर ली। किसी को कल्पना ही नहीं थी कि इस संघर्ष का कोई सुखद अन्त होगा, किन्तु आचार्य भिक्षु की दूरगामी सूझबूझ और उत्तरवर्ती आचार्यों की जागरूकता से एक अकल्पित कल्पना साकार हो गई।

जैनधर्म : युगधर्म

तेरापंथ ने सबसे बड़ा कोई काम किया है तो यह किया है कि धर्म का द्वार सबके लिए खोल दिया। इस संघ के नवमाधिशास्ता अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी एक उदारवादी आचार्य हुए। उनके नेतृत्व में लगभग सात सौ साधु-साध्वियों ने धर्मक्रान्ति के उन बीजों को विस्तार दिया है। एक साम्प्रदायिक परिवेश में रहने पर भी उनका चिन्तन और दृष्टिकोण असाम्प्रदायिक रहा। वे जैनधर्म को जनधर्म बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे। अणुव्रत आन्दोलन के द्वारा उन्होंने जाति, धर्म, प्रान्त, भाषा, वर्ण और वर्ग के भेदभावों से मुक्त रहकर मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की ओर प्रेरित किया।

अणुव्रत इस युग की अपेक्षा है। राष्ट्रीय चरित्र को ऊंचा उठाने की दृष्टि से यह अपने आपमें ठोस है। इसके माध्यम से जैनधर्म युगधर्म के रूप में मान्य हो सकता है। चरित्रहीनता के कारण आज जो समस्याएं राष्ट्र के सामने हैं, उनका समाधान अणुव्रत के पास है। अणुव्रत जैसा व्यापक और जनसुधार का काम आज तेरापंथ कर रहा है, वह अपने आपमें बेजोड़ है। तेरापंथ धर्मसंघ अपने धर्मक्रान्ति के उद्घोष को जन-जन तक पहुंचाकर चरित्र-निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण काम करेगा तथा जैनधर्म के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लोक-मानस को और अधिक परिचित कराएगा, ऐसा विश्वास है।

11. तेरापंथ : तटस्थ समीक्षा का समर्थक

संसार में व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं। पहली श्रेणी में वे लोग आते हैं, जो उजालों का स्वागत करने के लिए तत्पर रहे हैं और रहते हैं। दूसरी श्रेणी की रचना उन लोगों ने की है, जो अंधेरे सायों से प्यार करते हैं। ऐसे लोगों की आंखों में किरणें आंज दी जाएं तो भी वे यथार्थ को नहीं देख सकते। क्योंकि उन्हें उजाले के नाम से ही एलर्जी है। तरस आता है उन लोगों की बुद्धि पर, जो सूरज के उजाले पर कालिख पोतने का असफल प्रयास करते हैं, आकाश के पैबंद लगाना चाहते हैं और सछिद्र नाव पर सवार होकर सागर की यात्रा करना चाहते हैं।

इसी श्रेणी के लोग पिछले कुछ दिनों और महीनों से (वैसे वर्षों से ही) ऐसी पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित एवं वितरित कर रहे हैं, पेम्पलेट छपाकर बांट रहे हैं, जो अशिष्ट, अभद्र और अश्लील सामग्री से भरे रहते हैं, उनका उद्देश्य है तेरापंथ धर्मसंघ का विरोध करना, उसे नीचा दिखाना, उसकी प्रगति में बाधा उपस्थित करना और तेरापंथी लोगों के मनोबल को गिराना। उनकी इस धिनौनी नीति का पर्दाफाश तब होता है, जब उन पत्रों एवं पेम्पलेटों में एक भी मुद्दा ऐसा नहीं मिलता जो सैद्धांतिक या व्यावहारिक पहलू का स्पर्श करता हो। केवल चरित्र-हनन के उद्देश्य से किया जाने वाला ऐसा प्रयत्न कितना जघन्य होता है, समझने वाले व्यक्ति अच्छी तरह से समझते हैं।

तेरापंथ आज एक बहुचर्चित धर्मसंघ है। इसके अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी की गणना भी बहुचर्चित आचार्यों में होती रही है। जो बहुचर्चित होता है उसका विरोध भी होता है, पर विरोध का भी कोई उद्देश्य और स्तर होता है। निरुद्देश्य एवं स्तरहीन विरोध, विरोधी खेमे की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति, ईर्ष्या और विध्वंस की नीति का स्वयंभू प्रमाण बन जाता है। तेरापंथ एवं आचार्यश्री

का विरोध करने वाले अथवा उनके व्यक्तित्व पर कीचड़ उछालने वाले लोगों को पांच वर्गों में बांटा जा सकता है—

1. ऐसे लोग जो तेरापंथ धर्मसंघ से बहिष्कृत या बहिर्भूत हैं, अनुशासनहीन एवं स्वेच्छाचारी हैं, जिनके पास कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं है, वे अपनी गलती के प्रति आंखें मूंदकर धर्मसंघ की मुक्त आलोचना करते हैं।

2. ऐसे लोग, जो स्वभाव से ही धर्मसंघ की प्रगति को सहन नहीं कर सकते, बिना किसी कारण जो उसकी बदनामी करना चाहते हैं, वे ईर्ष्या और मात्सर्य की भावना से प्रेरित होकर विरोध करते रहते हैं।

3. ऐसे लोग, जो पेशेवर पत्रकार या लेखक हैं, जिनको पैसे के द्वारा खरीदा जा सकता है, पैसा ही जिनके जीवन का साध्य बन जाता है, वे लोग भी अपनी आलोचना की धार को तीखी कर लेते हैं।

4. ऐसे लोग जो तोड़-फोड़ की नीति में विश्वास करते हैं, प्रेस एवं व्यक्ति का नामोल्लेख किए बिना पत्र, पेम्पलेट आदि छपवाते रहते हैं।

5. ऐसे लोग, जो किसी व्यक्ति या संगठन से अपनी तुलना करने पर स्वयं को कमजोर अनुभव करने लगते हैं, फिर भी समाज में प्रतिष्ठित होना चाहते हैं, वे चरित्र-हनन और गाली-गलौज जैसी ओछी हरकतें करने के लिए उद्यत रहते हैं।

इस प्रकार की उद्देश्यहीन, उच्छृंखल, विध्वंसात्मक नीति के द्वारा किसी का भी हित सधता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता तथा न ही उससे उन व्यक्तियों अथवा संस्थाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, जिनकी ऐसी आलोचना की जाती है। यह तो समय, शक्ति एवं अर्थ का अपव्यय है तथा बुद्धि का दिवालियापन है।

विरोध : तेरापंथ की नियति

आचार्यश्री की धर्मशासना के पचास वर्ष पूरे हो चुके हैं। इन पांच दशकों के निरंतर साक्षी रहने वाले व्यक्तियों का अनुभव है कि इस अवधि में जितना और जैसा विरोध हुआ, शायद पहले कभी नहीं हुआ, किन्तु हमारे

अष्टमाचार्य पूज्य कालूगणी के युग में जीने वाले लोगों का मन्तव्य है कि विरोध का स्वर काफी पुराना है। पूज्य कालूगणी के समय में भी उनके विरोध में इतना अश्लील साहित्य लिखा गया कि सरकार को उसे जब्त करना पड़ा।

इस दृष्टि से तेरापंथ के लिए विरोध कोई नई बात नहीं है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि विरोध इसकी नियति है। आश्चर्य इस बात का है कि विरोध की तीव्रता और दीर्घता के बावजूद धर्मसंघ के अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आ सकी तथा विरोधी संवाद लिखने वाले लेखक भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके। **अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति—** अग्नि को ईंधन न मिले तो वह स्वयं शांत हो जाती है। इसी प्रकार लेखक को प्रोत्साहन न मिले तो वह स्वयं निष्क्रिय हो जाता है।

सन् 1959 में आचार्यश्री का चातुर्मासिक प्रवास कलकत्ता में था। वहां का एक पत्रकार लगातार चार महीनों तक उनके विरोध में छापता रहा। चातुर्मास संपन्न हुआ। विहार के समय वह आया और बोला—‘आचार्यश्री आपका आशीर्वाद चाहिए।’ आचार्यवर मुस्कराते हुए बोले—‘भाई! हमारी ओर से तुम्हें अभिशाप कब मिला, तुमने जी भरकर हमारे विरुद्ध प्रचार किया और हम कुछ नहीं बोले, यह आशीर्वाद नहीं है क्या?’

यह बात सुनकर पत्रकार सहम गया। वह थोड़ा सकुचाकर कहने लगा—‘मेरा मतलब आपके भक्तों से है। वे मुझे थोड़ा-सा इशारा कर देते तो मैं विरोध में कुछ नहीं छापता, पर आपके भक्तों ने कभी हमारी ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सबको पैसा दिया होगा, हमें कुछ नहीं दिया।’

विरोध करने का मूलभूत हेतु पैसा पाने का लोभ था। इस रहस्य का उद्घाटन स्वयं उस पत्रकार ने कर दिया। उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए आचार्यश्री ने कहा—‘पैसा देकर प्रशंसा में लिखवाना और निन्दा को रोकना हमारी नीति के खिलाफ है। आप जैसे पत्रकार भी जब ऐसा सोचते हैं तब पत्रकारिता का क्या होगा?’ आचार्यश्री का यह सीधा सपाट उत्तर पाकर पत्रकार निर्वाक् हो गया। वर्तमान में भी कुछ पत्रकार ऐसे हो सकते हैं, जो पैसे के लोभ में अपनी नीति को ताक पर रख सकते हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ की नीति

तेरापंथ एक संगठित और अनुशासित धर्मसंघ है। इसकी नीतियां स्पष्ट, स्थिर और सुचिन्तित हैं। एक नीति के अनुसार हम हल्के एवं छिछले स्तर के विरोधों का उत्तर देने में अपनी शक्ति को क्षीण नहीं करते। हमारे पास इतने अधिक रचनात्मक एवं करणीय काम हैं कि निरर्थक बातों के लिए समय ही नहीं बचता। इसी दृष्टि से आचार्यश्री ने एक घोष दिया—**जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद**। विरोध को विनोद मानने के बाद उसके प्रतिकार में ऊर्जा खपाने की जरूरत ही नहीं रहती।

दूसरी ओर, आलोचना सुन-सुनकर आचार्यश्री की मानसिकता इतनी परिपक्व हो गई थी कि उनके मन पर विरोधी वातावरण का कोई प्रभाव नहीं होता था। कभी-कभी तो वे यहां तक कह देते थे—

**यदि मम परिवादात् प्रीतिमाप्नोति कश्चित्,
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं परोक्ष वा॥**

यदि मेरी निन्दा करने से किसी को सुख मिलता है तो वह मेरे सामने या परोक्ष में मुक्त भाव से निन्दा करे, मुझे उससे कोई शिकायत नहीं होगी।

क्या सब कुछ दोषपूर्ण है ?

उल्लेखनीय बात यह है कि निन्दक और आलोचक लोगों को सब कुछ गलत ही गलत दिखाई देता है। वह भी तेरापंथ धर्मसंघ में ही परिदर्शित होता है। अन्यत्र कहां क्या होता है, किसी को कोई चिंता नहीं। तेरापंथ में कहीं आहट भी हो जाती है तो भूकम्प-सा आ जाता है। मजे की बात तो यह है कि उन महानुभावों को हमारे धर्मसंघ की एक भी विशेषता दिखाई नहीं देती। हमारे यहां कितने रचनात्मक काम हो रहे हैं। एक ओर त्याग-तपस्या के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित हो रहे हैं तो साधना एवं शिक्षा के क्षेत्र में नए आयाम खुल रहे हैं। साहित्य सृजन, आगम सम्पादन, लम्बी-लम्बी पदयात्राएं, देश के चारित्रिक स्तर को उठाने वाला अणुव्रत, तनाव-मुक्ति का उपक्रम प्रेक्षाध्यान, पारमार्थिक शिक्षण संस्था, समणश्रेणी आदि न जाने कितने उपक्रम हैं, जो तेरापंथ के कर्तृत्व को उजागर कर रहे हैं। इनकी तरफ

किसी का ध्यान क्यों नहीं जाता? कमियों को देखने के लिए सहस्राक्ष बनने वाले व्यक्ति अच्छाई को देखने के लिए एकाक्ष भी बन नहीं सकते? बनें भी तो कैसे? कवि ने कितना सच लिखा है—

अति रमणीये काव्ये, पिशुनो दूषणमन्वेषयति।

अति रमणीये वपुषि, व्रणमिव मक्षिकानिकरः॥

काव्य कितना ही सुन्दर क्यों न हो, पिशुन लोग उसमें दोष ही देखेंगे। शरीर कितना ही सुन्दर क्यों न हो, मक्खियों को तो घाव ही अच्छा लगेगा। इसी प्रकार निन्दक लोगों को तो अच्छाइयों में भी बुराई का ही दर्शन होगा। खैर, जिनका जो काम है, वे करते रहें। हमको तो आचार्यश्री ने यह सिखाया है कि विरोध से घबराओ मत। चिंतन करो कि हमारे धर्मसंघ में तेजस्विता है इसीलिए इसका विरोध होता है?

क्या तिल का ताड़ बनाना उचित है?

तेरापंथ धर्मसंघ में कभी कोई गलती करता ही नहीं, ऐसा मिथ्या अहं हम नहीं करते। हमारा यह अभिमत रहा है कि साधना काल में प्रमाद हो सकता है, पर हमारा संघ इतना अनुशासित और जागरूक है कि यहां प्रमाद चल नहीं सकता। कुछ लोगों का स्वभाव ऐसा होता है कि वे तिल को ताड़ और राई को पहाड़ बनाकर प्रस्तुति देते हैं, यह दृष्टिकोण का दोष है। **डूंगर बळतो दीखे, घर बळतो कोर्नी दीखे** इस कहावत के अनुसार अपनी हरकतों से आंख मूंदकर दूसरे के दोष देखना आदमी का सहज स्वभाव है।

विरोध भी वरदान है

विरोधी वातावरण की इस चर्चा में तेरापंथ को सबसे बड़ा लाभ यह मिला कि यह धर्मसंघों के क्षितिज पर उभरकर सामने आ गया। सामान्यतः इसके बारे में किसी की अभिरुचि थी या नहीं, विरोधी साहित्य ने अनेक प्रबुद्ध लोगों में इसके प्रति रुचि जागृत कर दी।

काका कालेलकर बहुत बड़े गांधीवादी विचारक थे। वे सबसे पहले दिल्ली में आचार्यश्री के पास आए। उन्होंने कहा—‘आचार्यश्री! मैं आपके पास आया हूं, पर किसी के आमंत्रण से नहीं, अपने आप आया हूं।’ आचार्यवर

ने आने का प्रयोजन पूछा तो वे बोले—‘मुझे आपके बारे में प्रकाशित साहित्य मिला। जितना साहित्य मिला, सारा आपके विरोध में ही विरोध में था। मैंने सोचा, किसी व्यक्ति के विरोध में इतना साहित्य छपा है, अवश्य ही वह कोई प्राणवान व्यक्ति है, उसके पास जाना चाहिए। यही सोचकर मैं यहां आ गया।’

विनोबा भावे के छोटे भाई शिवाजी भावे अत्यन्त सात्विक एवं संत वृत्ति के व्यक्ति थे। वे आचार्यश्री की महाराष्ट्र यात्रा में धुलिया में उनसे मिले। उन्होंने बताया—‘आचार्यजी! आपके इधर आगमन का संवाद मिलते ही यहां ये कुछ भाई सक्रिय हो गए। उन्होंने आपके विरोध में छपा हुआ ढेर सारा साहित्य मुझे दिया। उस साहित्य ने मुझे आप तक पहुंचा दिया। आपसे मिलने और बात करने के बाद मुझे ऐसा लगता है कि यदि मैं यहां नहीं आता तो मेरे जीवन में बहुत बड़ा धोखा रह जाता। मैंने उस साहित्य को देखा अवश्य, पर अपने दिमाग में नहीं रखा, दिमाग में रखता तो आज आपके दर्शन नहीं होते।’

देश के प्रसिद्ध उद्योगपति भागीरथजी कानोड़िया जयपुर में आचार्यश्री से मिले। एक दिन उन्होंने कहा—‘आचार्यजी! आपके विरोध में इतना गलत, गन्दा और ऊटपटांग साहित्य छपा है, उसे पढ़ा जाए तो आंखों को भी शर्म महसूस होने लगे। ऐसा साहित्य कुछ व्यक्तियों ने मेरे पास भी भेजा है।’ आचार्यश्री ने पूछा—‘आपने उस साहित्य का क्या किया?’ श्री कानोड़ियाजी ने कहा—‘वह कोई सजाकर रखने की थाती तो थी नहीं, मैंने उसे अग्नि-स्नान करा दिया।’ ऐसा आपने क्यों किया? यह पूछने पर वे बोले—‘आचार्यश्री! मैं आपको जानता हूं। आपका विरोध क्यों किया जाता है, इसे भी जानता हूं। मैं कुछ भी सुनूं या पढ़ूं, मुझ पर कोई असर होने वाला नहीं है। पर मेरे घर के बच्चे यदि वैसा साहित्य देख लें, पढ़ लें तो उनका दिमाग खराब हो सकता है, उनके संस्कारों पर बुरा असर हो सकता है। यही सोचकर वह सारा साहित्य मैंने जला दिया।’

कानोड़ियाजी न जैन थे, न तेरापंथी थे, पर उन्होंने जिस विवेक का परिचय दिया, वह उल्लेखनीय है।

समभाव की साधना

जैन शास्त्रों में निन्दा और प्रशंसा में सम रहने की बात स्थान-स्थान पर कही गई है। बहुत बार मन में आता कि क्या कोई व्यक्ति इतना समभाव रख सकता है? आचार्यश्री ने अपने जीवन में इस सत्य को उजागर किया। उनके प्रेरणास्रोत रहे आचार्यश्री भिक्षु। उन्होंने लोगों की भद्दी से भद्दी हरकत को हंसते-हंसते सहन किया था। आचार्यश्री भी उसी रास्ते पर चलते रहे हैं। एक ओर उनका नीचे स्तर का विरोध, दूसरी ओर उच्च स्तर की प्रशंसा। उनके श्रद्धालु अनुयायी उनकी प्रशंसा करें, यह एक बात है पर देश के उन चोटी के साहित्यकारों एवं विद्वानों ने आचार्यश्री के कर्तृत्व की पूजा की है, जो किसी को खुश करने के लिए एक शब्द भी नहीं कह सकते। उनमें श्री जैनेन्द्रकुमारजी, अक्षयकुमारजी, यशपालजी, दिनकरजी, मैथिलीशरणजी, बालकृष्णजी (नवीनजी) आदि नाम उल्लेखनीय हैं। वे लोग कहते रहे हैं कि हमने तेरापंथ जैसा अनुशासित और व्यवस्थित धर्मसंघ कहीं नहीं देखा, जिसका नेतृत्व आचार्यश्री तुलसी ने किया है।

पंडित सुखलालजी, बेचरदासजी, दलसुख मालवणिया आदि जैनधर्म के प्रकाण्ड विद्वान रहे हैं। किसी समय वे तेरापंथ संप्रदाय और उसकी विचारधारा के कट्टर आलोचक थे। उनकी आलोचनाएं भी अच्छे स्तर की होती थीं। पर जब वे लोग आचार्यश्री के कर्तृत्व और उनके सान्निध्य में चलने वाले आगम-संपादन के कार्य से परिचित हुए, तेरापंथ और आचार्यश्री के मुक्त प्रशंसक बन गए। कुछ वर्ष पूर्व जैन विश्वभारती में 'अमृत महोत्सव' के अवसर पर श्री मालवणिया ने आचार्यश्री के कर्तृत्व को प्रणाम करते हुए कहा था—'तेरापंथ अब जैनधर्म की पहचान बन गया है।'

निन्दा के वातूल जिन्हें विचलित नहीं कर पाते और प्रशंसा की थपकियां जिन्हें प्रमत्त नहीं बना सकतीं। व्यक्ति ही महापुरुष बनते हैं। हमारे धर्मसंघ के आचार्यों ने निन्दा और प्रशंसा—दोनों को सहना सीखा है, इसीलिए हमारा संघ महान बना है।

स्तरीय विरोध का स्वागत

आचार्य भिक्षु से लेकर आचार्य तुलसी के युग तक तेरापंथ धर्मसंघ पर कीचड़ उछालने की जो हरकतें की गईं, वर्तमान में वे पराकाष्ठा तक पहुंच गई हैं, पर इससे तेरापंथ का वर्चस्व कभी धूमिल होने वाला नहीं है, क्योंकि इसकी नीति विशुद्ध है और सैद्धान्तिक आधार पुष्ट है। विरोध करने वाले व्यक्ति स्वयं भी इस बात को महसूस करते हैं। फिर भी जनता को गुमराह करने के लिए और उसका मनोबल कमजोर करने के लिए जो व्यक्ति उजालों पर कालिख पोत रहे हैं, इससे उन्हीं के हाथ काले होने की सम्भावना है। ऐसे लोगों को सदबुद्धि आए, वे अपना समय एवं श्रम किसी रचनात्मक काम में लगाएं तो मानवता की अच्छी सेवा हो सकती है। यदि किसी को विरोध करना ही है तो स्तर का विरोध करें। स्तर का विरोध या आलोचना किसी भी व्यक्ति या संस्था द्वारा हो, उसका सदा स्वागत है। उसकी तटस्थ समीक्षा करने के लिए हमारे चिंतन के द्वार हर क्षण खुले हैं।

12. तेरापंथ : समालोचना का पक्षधर

इन्दौर से प्रकाशित तीर्थकर (मासिक) जैन समाज की पत्र-पत्रिकाओं में विशिष्ट स्थान रखता है। पत्र के सम्पादक अपनी निर्भीक पत्रकारिता के लिए ख्यातनामा हैं। पिछले कई वर्षों से मैं तीर्थकर की पाठिका हूँ। इसके सम्पादकीय तथा कुछ अन्य लेखों को गहरे जिज्ञासुभाव से पढ़ने की इच्छा रहती है। हमारे धर्मसंघ के अनेक साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाएं भी इस पत्र को रुचि से पढ़ते हैं। पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री तुलसी के मन में भी इसका स्थान था। उन्होंने इसके एक सम्पादकीय पर अपनी ओर से साधुवाद भी दिया था। हमारी यह निश्चित धारणा थी कि तीर्थकर जितना निर्भीक पत्र है, उतना ही तटस्थ रहा। किसी भी व्यक्ति, संस्थान या धर्मसंघ के सम्बन्ध में यह असमीक्षित सामग्री प्रकाशित नहीं करता। यह नीति की बात है और किसी भी पत्र-पत्रिका के लिए अनुकरणीय कदम है, किन्तु लगता है कि अब हमें अपनी पूर्व धारणा को बदलना पड़ेगा। तीर्थकर के कुछ अंकों में प्रकाशित 'खत' लेखकीय गरिमा से भी शून्य है। उस सामग्री में तेरापंथ या आचार्यश्री तुलसी का विरोध है, इस कारण से वह आपत्तिजनक है, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि तेरापंथ और आचार्यश्री तुलसी का विरोध कोई नई बात नहीं है।

तीर्थकर में भी यदा-कदा तेरापंथ के विरोध में स्तरहीन आलोचना छपती रही है। इस सम्बन्ध में संपादक महोदय को सूचित किया गया और जब उनका आचार्यवर से साक्षात्कार हुआ, तब इस ओर इंगित भी कर दिया गया। बावजूद इसके एक सिलसिला चल पड़ा। सन् 1987 का सितम्बर-अक्टूबर अंक (साधु मार्ग विशेषांक) देखकर तो ऐसा लगा मानो 'खत' के लेखक की चेतना में विरोध करना और जो जी में आए लिखना लेखक का

धर्म बन गया। ऐसे लेखन का क्या प्रतिवाद किया जाए? किंतु जब लेखक ने तेरापंथ समाज की जागरूकता पर सीधा आक्रमण कर दिया तो उसका उत्तर देना भी अपरिहार्य हो गया।

नमक की रोटी का क्या स्वागत?

कौन क्या लिखता है, उसके प्रति जागरूक होना जरूरी है। कौन क्या छापता है, उसके प्रति भी जागरूक होना जरूरी है। जागरूक होने का अर्थ है आत्मनिरीक्षण करना, अपने आपको तोलना, अपनी कोई खामी लगे तो उसका परिष्कार करना और जनता को भ्रान्त होने से बचाना।

जागरूकता का अर्थ निषेधात्मक विचारों की प्रतिक्रिया करना नहीं है। हमारा धर्मसंघ इस प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति से सदा बचता रहा है। हमारा संकल्प है कि हम कभी प्रतिक्रियात्मक चक्रव्यूह में नहीं उलझेंगे। यही कारण है कि पिछली दो शताब्दियों से तेरापंथ पर मौखिक और लिखित प्रहार होते रहे, पर हमारे आचार्य कभी निषेधात्मक समालोचनाओं के प्रति सक्रिय नहीं हुए।

श्री गणेश ललवानी अपने आपको समालोचक मानते होंगे। समालोचक होना और समालोचना करना बहुत बड़ी बात है, पर जब व्यक्ति तथ्यों को तोड़-मोड़कर अपने विवेक को गिरवी रखकर समालोचना करता है, उस समालोचना के प्रति दया का भाव ही जताया जा सकता है, उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता।

निषेधात्मक भावों का उत्तर कब तक दिया जाए? उसकी शृंखला का कहीं अन्त ही दिखाई नहीं देता। रचनात्मक समालोचना हो, तथ्यों के आधार पर हो तो उसके बारे में चिंतन भी किया जा सकता है। आचार्यश्री तुलसी समालोचना के विरोधी नहीं थे। वे समालोचना का स्वागत करते थे, किंतु नमक की रोटी का क्या स्वागत किया जाए? कुछ आटा हो तो नमक की रोटी भी काम की हो सकती है, पर जिसमें कोरा नमक ही नमक हो, वह स्पृहणीय कैसे बन सकती है?

जिन खोजा तिन पाइयां

तेरापंथ धर्मसंघ रुग्ण और वृद्ध की सेवा में आदर्श रहा है। हमारे धर्मसंघ में सेवा के अप्रतिम उदाहरण हैं, पर जो खोजने का प्रयत्न ही नहीं करे, उसे ऐसे उदाहरण दिखाई कहां से दें? कबीरजी ने ठीक ही तो कहा है—

जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।

मैं बपुरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ।।

गहरे में उत्तरकर खोजने वालों को ही रत्न मिलते हैं। डूबने के भय से जो किनारे पर ही बैठा रहे, उसे रत्न कैसे मिल सकते हैं? सर्वोदयी नेता श्री कृष्णराज मेहता लाडनू आए। उन्होंने वहां वृद्ध साध्वियों की सेवा को देखकर कहा—‘मैं बहुत सेवाकेन्द्रों में गया हूं, पर लाडनू में वृद्ध साध्वियों की जैसी सेवा हो रही है, वैसी कहीं नहीं देखी। यह सेवा केवल व्यवस्थागत सेवा नहीं है। इसमें भावना का गहरा योग है।’

हमारे धर्मसंघ की एक साध्वी कैसर से पीड़ित थी। साध्वियों ने उनकी जो सेवा की, उसे देखकर उनके संसारपक्षीय भाई, जो किसी अन्य संप्रदाय के साधु थे, बोले—‘साध्वीजी! आप धन्य हैं। आप तेरापंथ धर्म में दीक्षित हैं, इसलिए आपकी ऐसी सेवा हो रही है।’

किसी व्यक्ति ने आरोप की भाषा में कह दिया या लिख दिया कि ‘परिवार के लोग संपन्न नहीं थे, इस कारण अमुक मुनि की सेवा नहीं हुई और उसे संघ से बाहर निकाल दिया गया। झूठ की भी कोई सीमा होती है। तेरापंथ धर्मसंघ में आज तक सैकड़ों साधु-साध्वियों की विलक्षण सेवा हो चुकी है। उसका साक्ष्य है तेरापंथ का इतिहास और ‘शासन-समुद्र’ ग्रंथ। क्या उन सबके ज्ञातिजन लखपति और करोड़पति ही थे?’

दीक्षित होने के बाद हमारे आचार्य इस बात को गौण विषय बताते हैं कि कौन साधु-साध्वी किस परिवार से हैं? उनके सामने मुख्य मुद्दा यही रहता कि कौन साधु-साध्वी कैसा है? उसका आचार-विचार कैसा है?

किसी भी साधु-साध्वी की सेवा उसके परिवार के आधार पर नहीं होती। वह शासन की गरिमा एवं मर्यादा के आधार पर होती है। आचार्यश्री

तुलसी ने एक साधु को इसीलिए संघ से अलग कर दिया कि उसने सेवा करने से आनाकानी की थी। सेवा को हमारी संघीय व्यवस्था का प्रमुख आधार माना गया है। उसे पारिवारिक जनों के पैसों से तोलकर ललवानीजी ने भयंकर भूल की है। केवल सुनी-सुनाई बात के आधार पर तथ्यों की जांच किए बिना कोई भी लेखक लिख कैसे सकता है? क्या लेखक का यह नैतिक कर्तव्य नहीं था कि वह तथ्यों की जांच करने के बाद कुछ लिखता। कोई ग्रामीण व्यक्ति सुनी-सुनाई बात लिख दे, वह एक बात है, किन्तु स्वयं को विद्वान समालोचक मानने वाला व्यक्ति ऐसी आधारहीन बात लिख दे, दो सौ वर्षों की जीवंत परम्परा पर आरोप लगा दे, इससे बड़ा जघन्य अपराध और क्या होगा?

‘खत’ में आरोप लगाया है कि ‘मृगी’ के कारण उस साधु को संघ से अलग किया गया और वह भी रात के बारह बजे। यह मिथ्या और मनगढ़ंत आरोप है। उस साधु को संघ से अलग करने का मूल कारण था उसकी आचारहीनता और अनुशासनहीनता। यह घटना डेढ़ दशक पुरानी है। भ्रान्ति के आधार पर इसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किस शालीनता से उपजा है, समझ में नहीं आता। इस घटना के अन्य पक्ष जितने भ्रान्तिपूर्ण और गलत हैं, रात के बारह बजे की बात भी उतनी ही गलत है।

होनी को अनहोनी बनाने का प्रयत्न

‘खत’ में उल्लिखित दूसरी घटना का सम्बन्ध है एक वृद्ध मुनि के विहार से। इस घटना ने खत में नए प्राणों का संचार कर दिया। ऐसा लगता है कि पूरा खत करुणा से ओत-प्रोत है। इस करुणा के पीछे सचाई का धरातल होता तो एक न्याय होता, किन्तु सचाई से शून्य काल्पनिक करुणा स्वयं कितनी दयनीय बन जाती है, यह बताने की अपेक्षा नहीं है।

मुनि जयचन्दलालजी वृद्ध थे, इसमें कोई संदेह नहीं है। उनके हृदयरोग था, यह भी सत्य है। वे सात वर्षों से वयोवृद्ध मुनि सोहनलालजी के साथ लूणकरणसर में प्रवास कर रहे थे। मुनि सोहनलालजी का स्वर्गवास होने के बाद मुनि विजयरजजी उनकी सेवा में थे। मुनि जयचन्दलालजी ने आचार्यश्री से प्रार्थना करवाई कि उनके शरीर का कोई भरोसा नहीं है। वे जैसे-तैसे एक

बार आचार्यवर के दर्शन करना चाहते हैं। यह उनकी अंतरंग अभिलाषा है। इस प्रार्थना के बाद आचार्यवर ने मुनि हंसराजजी और मुनि अरविन्दकुमारजी को वहां भेजा। उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि वहां की परिस्थिति देखकर साधु एवं श्रावक सहचिंतन कर आगे का कार्यक्रम निर्धारित करना। मुनि जयचन्दलालजी की आने की स्थिति न हो तो उन्हें वहीं रखना। तुम दोनों उनकी सेवा में रहना और मुनि विजयराजजी को दर्शन करने के लिए भेज देना। यदि उनकी आने की स्थिति हो, पर चलने में कठिनाई हो तो संघीय विधि सम्मत साधन का उपयोग कर उन्हें यहां ले आना।

आचार्यवर के निर्देशानुसार दोनों संत लूणकरणसर पहुंच गए। वे पांच-सात दिनों तक वहां रहे। उन्होंने पूरी स्थिति का अध्ययन किया। सबने परस्पर विचार-विमर्श किया। उसके बाद मुनि जयचन्दलालजी ने परिषद् के मध्य में कहा— 'मेरा शरीर वृद्ध है, अस्वस्थ है। मेरी प्रबल इच्छा है कि मैं एक बार पूज्य गुरुदेव के दर्शन कर लूं।' उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें वहां से विधिसम्मत साधन के माध्यम से विहार करवाया गया। रास्ते में उनका स्वर्गवास हो गया। वह किसी कठिनाई के कारण नहीं हुआ। उसे एक संयोग ही मानना होगा। वह भी तब हुआ, जब लगभग रास्ता तय हो चुका था। रात्रि के समय वे बड़े आराम से सोए हुए थे और सोए ही रह गए। हृदयरोग से पीड़ित लोगों की मृत्यु इस प्रकार हो जाती है। यह कोई अनहोनी बात नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि होनी को अनहोनी बनाने का प्रयत्न किया गया।

अच्छा होता कि लेखक प्रत्यक्षदर्शी तीन मुनियों और साथ में रहे श्रावकों से बात करने के बाद कुछ लिखने का निर्णय लेते, किन्तु उन्होंने किसी बाजारू समाचारपत्र में प्रश्नों की शृंखला को पढ़कर अथवा किसी गैर जिम्मेदार व्यक्ति से सुनकर धारणा बना ली कि प्रश्न करना ही गुनाह है। ऐसी स्थिति में पूछताछ कर स्थिति का आकलन करने का प्रसंग ही कहां से आता ?

लेखक की लेखनी की करामात तो यह है कि सेवा करने वालों की तुलना फांसी के तख्त पर लटकाने वालों के साथ की है। सचाई को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने का यह भी एक अनोखा ढंग है।

हमारे धर्मसंघ की आज भी यह प्रबल आस्था और अनुशांसा है कि संघ में दीक्षित होने वाले साधु और साध्वी की जब तक वह संघ में रहे, अनुशासन में रहे, पूरी सेवा की जाए। आचार्य भिक्षु ने सेवा को अतिरिक्त महत्त्व दिया। उत्तरवर्ती सभी आचार्य उनके निर्देश को क्रियान्वित करते आए हैं। इसीलिए हमारे संघ में सेवा की एक विशिष्ट परम्परा बनी है। सवा दौ सौ वर्ष की उस गौरवशाली परम्परा को झुठलाने का प्रयत्न, वह भी एक-दो मिथ्या घटनाओं के द्वारा, बहुत ही अजीब-सा लगता है।

यदि किसी बीमार साधु-साध्वी को संघ से अलग कर दिया जाए या किसी को जबरदस्ती विहार करा दिया जाए तो क्या संघ में विप्लव नहीं मच जाएगा? ऐसी घटनाओं से प्रबुद्ध साधु-साध्वियों के मन में प्रतिक्रिया नहीं होगी? क्या इससे संघ के संगठन का आधार मजबूत बन सकेगा? हमारे आचार्य इस सचाई के प्रति बहुत जागरूक रहे हैं। इसलिए दूरदराज में बैठा आदमी इसकी अधिक चिन्ता न करे तो शायद यह उसके लिए भी अच्छा रहेगा।

नकारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम

प्रसंगवश अणुव्रत के बारे में भी कुछ बात कर लें। लेखक ने सन् 1987 के मई अंक में जो कुछ लिखा है, उसके आधार पर ऐसा लगता है कि उन्हें तेरापंथ की प्रवृत्तियों में निराशा ही निराशा दिखाई देती है। मेरी समझ में अणुव्रत आन्दोलन ने नैतिकता के स्वर को जितना मुखर किया है, उतना कम आन्दोलनों ने किया है। जो व्यापकता और चारित्रिक निष्ठा अणुव्रत में है, क्या इस तुलना में किसी दूसरे आन्दोलन को उपस्थित किया जा सकता है? अणुव्रत की इतनी व्यापकता, उपयोगिता और लोकप्रियता में भी लेखक को कोई अच्छाई नजर नहीं आई, यह देखने का अपना-अपना नजरिया है। लगता है कि इस निराशावादी दृष्टिकोण ने ही लेखक को तेरापंथ की आलोचना करने के लिए प्रेरित किया है।

तेरापंथ के अनुयायी आचार्यश्री को अपना गुरु मानते हैं। अणुव्रत की आचार-संहिता में उनकी आस्था है। फिर भी क्या समूचा तेरापंथी समाज अणुव्रती है? जो अणुव्रती हैं, वे अनैतिक उपायों से धन संग्रह करें तो लेखक

आपत्ति उठा सकता है। समाज में ऐसे आदर्श अणुव्रती भी हैं, जो ब्लैक में इंजेक्शन खरीदकर बच्चों की चिकित्सा कराना भी पसन्द नहीं करते। पर यह सब जानने के लिए सकारात्मक दृष्टिकोण की जरूरत रहती है। अन्यथा अच्छाई भी बुराई के रूप में उभरती रहेगी।

अणुव्रत एक व्यापक कार्यक्रम है। अणुव्रत स्वीकार करने वालों में जैनों की अपेक्षा अजैन अधिक हैं। फिर उसे तेरापंथ की सीमा में ही बांधकर क्यों देखा जाए। खैर, लेखक की अपनी इच्छा है, सोचने का अपना कोण है, किन्तु यह निश्चित है कि अणुव्रत के संबंध में सही जानकारी होती तो ऐसी बात लिखने का उत्साह ही पैदा नहीं होता।

कुछ इधर-उधर की

सीमांत गांधी के पुरस्कार की बात को भी दूसरे ही दृष्टिकोण से देखा गया है। वास्तव में वह दो अहिंसानिष्ठ व्यक्तियों का मिलन था। सीमांत गांधी का दिल्ली में आना, आचार्यवर का उनसे मिलना, वर्तमान की समस्याओं पर विचार करना आदि सारी बातें कहीं चली गईं, किन्तु आचार्यश्री के सामने पुरस्कार की बात कही गई, उसमें आचार्यश्री की अनुमोदना जुड़ गई। यदि इस प्रकार अनुमोदना जुड़ जाए तो दुनिया में जीने वाला कोई व्यक्ति अनुमोदना से बच ही नहीं सकता।

माइक, बिजली और पैसे आदि के बारे में तो और भी विचित्र तर्क प्रस्तुत किए गए हैं। इस विषय में हमारा जो चिन्तन है, उसे समझने का प्रयास ही नहीं किया गया। लेखक ने किस साधु से पूछा और किसने ऐसा उत्तर दिया, यदि यह स्पष्ट किया गया होता तो हमें भी सही स्थिति को जानने का मौका मिलता, किन्तु बिना नाम के ऐसी बात लिखना अपने-आपमें एक प्रवंचना है।

संपादक से सीधी बात

किसी व्यक्ति ने कुछ कहा और समालोचक ने बिना पड़ताल उसके बारे में लिखा, किन्तु एक पत्रकार ने उसे प्रकाशित किया, यह भी कम विमर्शनीय नहीं है। क्या पत्रकार इतना अनुबंधित है कि उसके पास जो

भी सामग्री आए, उसे वैसा का वैसा छाप दे। जिस पत्र में यह छपा है, वह तीर्थकर की अभिधा से जुड़ा हुआ है। तीर्थकर हमारे लिए अहिंसा एवं सत्य के परम प्रतीक और परम आदर्श होते हैं। उनके नाम से चलने वाले पत्र में कम से कम हिंसा और असत्य को सहारा देने वाली सामग्री नहीं आनी चाहिए। तीर्थकर कोई राजनैतिक पत्र नहीं है और न ही समाज में कोलाहल पैदा करने वाला पत्र है। इसमें तो धर्म और अध्यात्म के स्वर मुखर किए जा रहे हैं। उस स्थिति में साम्प्रदायिक सद्भावना, जैन समाज की एकता और तथ्यों की सचाई को मद्देनजर रखकर ऐसा करना चाहिए था, किन्तु खेद है कि ऐसा कुछ भी नहीं किया गया।

13. तेरापंथ : अमृत संसद

हर व्यक्ति के दिमाग में एक समस्या है और हर व्यक्ति के दिमाग में एक समाधान है। एक समस्या को सब अपनी समस्या समझे और एक का समाधान सबके काम आए। समाधान के अभाव में बढ़ती हुई समस्या संक्रामक बीमारी का रूप न ले सके, इस दृष्टि से आज का समाधान आज प्रस्तुत करने के लिए 'अमृत संसद' मंच की स्थापना हुई। इसकी स्थापना के दो उद्देश्य हैं—

- पूरे तेरापंथ समाज का केन्द्रीकरण।
- एक आवाज पर पूरे समाज की सतर्कता।

किसी भी समाज में बिखराव की स्थिति होती है तो उसकी क्षमताओं का पूरा उपयोग नहीं हो सकता। उपयोग के लिए क्षमताओं को केन्द्रित करना जरूरी है। समाज का हर व्यक्ति अपने-आपमें एक शक्ति है। इस शक्ति को काम में लेने से पहले उसे 'एगप्पमुहे' एकात्ममुख करना जरूरी है। धार्मिक दृष्टि से तेरापंथ समाज की आत्मा है उसके एक मात्र आचार्य। आचार्य के प्रति समाज में जो प्रगाढ़ आस्था है, वह विलक्षण है। आस्था के धागे में बंधा हुआ समाज कठिन-से-कठिन चढ़ाई के मार्ग पर भी आरोहण करने में सफल हो रहा है। तेरापंथ की प्रगति का सबसे बड़ा रहस्य यही है।

समाज केवल धर्म के आधार पर नहीं चलता। उसे धार्मिक चेतना के साथ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक चेतना की भी अपेक्षा रहती है। इस बहुमुखी चेतना को स्वर देने के लिए समाज में अनेक संगठन बने और उनके माध्यम से काम भी हुआ, किन्तु कोई ऐसा मंच नहीं था, जहां सब संगठन मिल-बैठकर परामर्श कर सकें। वर्षों से यह कमी अखर रही थी। इस कमी

को पूरा करने के लिए सन् 1986 के प्रारम्भ में ही कानोड़ में अखिल भारतीय तेरापंथ श्रावक सम्मेलन का आयोजन हुआ। उसमें देशभर के चिन्तनशील श्रावक सम्मिलित हुए। एक जनवरी से पांच जनवरी तक पंच दिवसीय श्रावक सम्मेलन में अनेक विषयों पर मुक्त चर्चा हुई और अनेक प्रस्ताव पारित किए गए। वहां पारित एक प्रस्ताव के अनुसार वह श्रावक सम्मेलन 'तेरापंथ अमृत संसद' के रूप में परिणत हो गया।

लाखों लोगों के समाज में किसी कोने से कोई स्वर उभरे और वह वहीं खो जाए उस स्वर का कोई अर्थ नहीं रहता। एक स्वर लाखों लोगों का स्वर बने तो उसमें एक शक्ति पैदा होती है। ऐसी शक्ति जो सारे संसार को हिला सके। यह तभी हो सकता है, जब एक स्वर लाखों लोगों तक पहुंच पाए।

स्वर्ग की सुधर्मा सभा में एक घंटा होता है। उसका नाम सुघोषा है। जिस समय सुघोषा घंटा बजता है, उसी समय बत्तीस लाख विमानों के घंटे बज उठते हैं। उन विमानों में रहने वाले देव एक पल में सावधान हो जाते हैं। एक आवाज उन सबको जगा देती है। 'तेरापंथ अमृत संसद' की आवाज भी पूरे समाज तक पहुंचे और सबको सतर्क कर दे, यह अपेक्षा है।

किसी भी संघ या संगठन की ताकत उसके स्वर्णिम अतीत में नहीं होती। वर्तमान की ठोस उपलब्धियां ही उसको एक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा दे सकती हैं। यद्यपि अतीत का श्रम निरर्थक नहीं होता। न जाने कितने कल की खाद लगती है, तब आज बनता है। पर उस आज को सार्थक बनाने के लिए अतीत के भरोसे पर नहीं रहा जा सकता। 'तेरापंथ अमृत संसद' ऐसा प्रथम मंच है जो सामाजिक और संघीय वातायन से झांककर आज की समस्याओं पर मुक्त भाव से चिंतन कर उनका समाधान खोजने के लिए संकल्पित है।

'तेरापंथ अमृत संसद' का प्रथम अधिवेशन जैन विश्व भारती (लाडनूँ) सुधर्मा सभा में दिनांक 14 नवम्बर 1986 को युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी की मंगल सन्निधि में ठीक साढ़े नौ बजे शुरू हुआ। मंच के ठीक सामने पांच सौ व्यक्तियों के लिए उपयुक्त स्थान को कनातों से घेर कर उसमें U के आकार में व्यवस्थित कुर्सियां बिछा दी गईं। मंच के एक ओर मंच संचालन

के लिए स्टैण्ड रखा गया। उससे थोड़ी दूर पर ही बिछी हुई कुर्सियों के किनारे वाली कुर्सी के पास एक छोटी टेबल रख दी गई, जिसका उपयोग संचालक को अपने कागजात आदि रखने के लिए करना था। ठीक समय पर संसद द्वारा प्रदत्त परिचय पत्र लगाए हुए सांसद निर्धारित स्थान पर बैठ गए। मंच पर आचार्यवर, युवाचार्यश्री, साधु-साध्वियां एवं समणियां उपस्थित थीं।

साधु-साध्वियों, समणियों और मुमुक्षु बहनों की गणना न की जाए तो सदन की कुल उपस्थिति लगभग सवा तीन सौ थी। उसमें श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद, अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मंडल की देशव्यापी शाखाओं के लगभग तीन सौ व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्रों से प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आए थे। मनोनीत सदस्यों, विशेष आमंत्रित सदस्यों और अखिल भारतीय तेरापंथ संगठनों के पदेन अध्यक्ष एवं मंत्रियों को भी सांसदों की श्रेणी में सम्मिलित किया गया था। कुछ व्यक्तियों ने दर्शक की भूमिका से संसद क्षेत्र में बैठने की अनुमति प्राप्त की थी। उन्हें केवल दर्शक का अधिकार दिया गया। किसी भी विषय पर प्रश्न पूछने, सुझाव देने या बोलने का अधिकार उनके पास नहीं था।

अधिवेशन शुरू होने से पहले उसके बारे में अनेक शंकाएं, जिज्ञासाएं और कल्पनाएं अपना रंग दिखा रही थीं। किसी भी नई प्रवृत्ति को लेकर ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। कुछ लोगों की दृष्टि में 'अमृत संसद' का कोई उपयोग नहीं था तो कुछ लोगों को उसमें अनेक नई संभावनाएं दिखाई दे रही थीं। कुछ लोग उसे असफल बनाने का सपना देख रहे थे और कुछ व्यक्ति उसकी सफलता के लिए पूरे मन से जुटे हुए थे।

एक नया प्रयोग

खैर, अधिवेशन शुरू हुआ। मंगलाचरण, प्रतीक का प्रस्तुतीकरण, संसद के घोष-**सच्चं लोयम्मि सारभूयं** का उच्चारण और सांसदों द्वारा शपथ ग्रहण, सब कुछ अच्छा लगा। सबसे अच्छा लगा आचार्यवर के लिए एक निश्चित सम्बोधन- 'भंते'। अन्य सब विशेषणों को छोड़कर पूर्ण गरिमामय एक ही सम्बोधन अपने-आपमें एक नया प्रयोग था। आचार्यवर और युवाचार्यश्री का प्रेरक उद्बोधन-संदेश सांसदों को भीतर तक सचेत कर गया। अब शुरू

हुई संसद की कार्यवाही कानोड़ सम्मेलन में पारित प्रस्ताव, जिन्हें कानोड़ प्रस्ताव के रूप में स्वीकृत कर लिया गया था, जिनको क्रियान्वित करने का दायित्व जैन विश्वभारती, श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा और अखिल भारतीय तेयुप को दिया गया था। उनके पदाधिकारियों ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। प्रस्तुतीकरण सहज और प्रभावी था। एक-दो धारा को छोड़कर प्रस्ताव की सब धाराएं क्रियान्वित हो गईं, ऐसी प्रतीति दी गई। सांसदों ने जागरूक भाव से एक-एक बात को सुना। उनके मन में जहां-जहां संदेह, जिज्ञासा आदि को उभार मिला, उन्होंने शालीनता के साथ अपने मन को खोला। सदन में प्रश्नों की बौछार शुरू हो गई। सम्बन्धित व्यक्तियों ने अपना बचाव करते हुए प्रश्नों के उत्तर दिए। इस पर आचार्यवर ने टिप्पणी की—‘हर धारा की क्रियान्विति पूरी तरह हुई है, कार्यकर्ताओं ने कहीं कसर नहीं छोड़ी है, यह कहना और सोचना औपचारिकता मात्र होगी। जहां जो काम नहीं हुआ है, उसे भी सरलता से सदन के सामने प्रस्तुत करना चाहिए। जब तक अपनी कमी को स्वीकार करने का मनोबल विकसित नहीं होगा, संसद अपने उद्देश्य में सफल नहीं होगी।’

आचार्यवर के सामयिक दिशादर्शन से संसद में खामोशी छा गई। तटस्थ आत्मालोचन का क्रम शुरू हुआ और कुछ मुद्दों पर फिर चर्चा चली। चर्चा पूरी सहजता और मुक्तता से हो रही थी। उसमें आचार्यवर भी प्रायः ज्ञाता-द्रष्टा भाव से उपस्थित रहे। हां, जब कभी प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दिग्भ्रान्त बनने लगे, आचार्यवर ने उनको दिशाबोध देकर आश्वस्त कर दिया।

कुछ लोगों का यह चिंतन रहा कि सदन में आचार्यश्री का सान्निध्य न रहे तो सांसदों को खुलकर बात करने का अवसर मिल सकता है, किन्तु आचार्यश्री की उपस्थिति में भी खुलावट में कोई अवरोध नहीं था। बल्कि अनेक सांसद तो इसी आकर्षण से आए थे। संसद की शालीनता और गरिमा में भी आचार्यश्री का आभामण्डल काम कर रहा था। कुछ न बोलकर भी आप बहुत कुछ संप्रेषित कर रहे थे। इसलिए आपके सान्निध्य से मिलने वाली ऊर्जा को प्राप्त करने का लोभ संवरण शायद किसी भी सांसद के वश की बात नहीं थी।

संसद की छह उपनिषदों में लगभग अठारह बीस घंटे सब सदस्य एक साथ बैठे। वैसे उनके आवास और भोजन की व्यवस्था भी एक साथ ही थी। पर वहां तो भोजन, शयन और व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने जितना समय ही बच पाता था। शेष समय तो 'सुधर्मा सभा' में व्यतीत होता था।

'तेरापंथ अमृत संसद' की एक विशेषता यह थी कि इसमें पुरुषों की तरह महिलाओं को भी पूरा प्रतिनिधित्व प्राप्त था। पहले यह निर्णय लिया गया था कि तेरापंथी सभाओं और युवक परिषदों के दो-दो सदस्य संसद के प्रतिनिधि रहेंगे, पर महिला मंडलों से एक-एक सदस्य को ही प्रतिनिधित्व मिलेगा। कुछ समय बाद इस निर्णय को बदलकर महिलाओं को भी पूरा प्रतिनिधित्व दे दिया गया। इस स्थिति के बावजूद महिलाओं की संख्या अपेक्षाकृत कम रही। इसका कारण था 'अमृत संसद' की सदस्यता स्वीकार करने के बाद आने वाले दायित्व के बारे में पूरी जानकारी का अभाव। अनेक महिलाओं के मन में यह संदेह जाग उठा कि संसद में नाम देने वालों को दो-चार महीनों तक घर से बाहर रह कर काम करना होगा अथवा कभी समय पर नहीं जा सके तो पता नहीं क्या करना होगा? कारण कुछ भी बने हों, महिलाएं पुरुषों के अनुपात में कम रहीं।

संस्कारों का सुफल

'अमृत संसद' के लिए प्रतिनिधियों का चयन स्थानीय संस्थाओं द्वारा किया गया था। सांसद की अर्हता के मानदण्डों का निर्धारण न होने के कारण क्षेत्रीय सुविधा के अनुसार सांसद आए थे। उनमें अधिक व्यक्ति चिंतनशील, विवेकशील और सब दृष्टियों से उपयुक्त थे तो कुछ व्यक्ति संख्यापूर्ति करने वाले भी थे। संसद का कोई विधि-विधान न होने पर भी सभी सांसद अनुशासित रहे, शालीनता से पेश आए, यह तेरापंथ धर्मसंघ के सदस्यों को विरासत में प्राप्त समर्पण और अनुशासन के संस्कारों का सुफल था।

द्विदिवसीय अधिवेशन में निम्नलिखित बिन्दुओं पर मुक्त चर्चा चली—

- भावी पीढ़ी और तत्त्वज्ञान

- कार्यकर्ता प्रशिक्षण
- संगठन
- संस्कार निर्माण
- तेरापंथ समाज की जनगणना
- सामाजिक कुरूद्वियां
- आयोजन की व्यवस्था

प्रातः और मध्याह्न के समय निर्धारण बिन्दुओं पर चर्चा, प्रस्ताव और सुझावों का क्रम चला। रात्रिकालीन कार्यक्रमों में आधा-पौन घंटा का शून्यकाल था। उसमें सांसदों ने अनेक प्रकार की जिज्ञासाएं प्रस्तुत कीं। जिनमें से कुछ जिज्ञासाओं का समाधान संसद के संचालक धर्मचन्दजी चोपड़ा ने दिया। जो कुछ शेष रहा उसे आचार्यवर ने समाहित किया। महत्त्वपूर्ण चिंतन, आवश्यक प्रश्नों और सुझावों के बीच दो-तीन सांसदों ने वहां की आवास-व्यवस्था और भोजन-व्यवस्था के बारे में भी कुछ कहा, किन्तु वह कथन अधिसंख्यक सांसदों को अच्छा नहीं लगा, क्योंकि समग्र रूप में व्यवस्था में कहीं कोई त्रुटि नहीं थी। व्यक्तिगत रूप में कुछ व्यक्तियों को किसी प्रकार की असुविधा हो तो उसकी सूचना व्यवस्थापकों तक पहुंचा देना पर्याप्त था। संसद में ऐसी साधारण बातों के लिए समय जाया करना उचित नहीं लगा।

कल्पवृक्ष की छांव

‘अमृत संसद’ में शुरू हुई विचार यात्रा में जहां कहीं अवरोध उपस्थित हुआ, आचार्यवर एवं युवाचार्यश्री के सफल मार्गदर्शन से वह तत्काल दूर हो गया। घर लौटने से पूर्व सांसदों को पाथेय रूप में आचार्यवर से विशेष उद्बोधन मिला। उनके चेहरों पर अतिरिक्त उल्लास और प्रसन्नता थी। उन्हें देखकर उन लोगों ने अपने मन में एक प्रकार की रिक्तता का अनुभव किया, जो संसद में उपस्थित नहीं रह सके थे। ‘अमृत संसद’ के सम्पूर्ण कार्यक्रम की आयोजना और संयोजना में आचार्यवर का आशीर्वाद तो था ही, संसद के संचालक श्री धर्मचन्दजी चोपड़ा का कर्तृत्व भी प्रारम्भ से अन्त तक मुखर होता रहा।

‘तेरापंथ अमृत संसद’ की परिक्रमा करने के बाद ऐसा लगा कि ‘अमृत संसद’ तेरापंथ समाज के लिए एक कल्पवृक्ष है। कल्पवृक्ष की छांव में रहने वाले लोग पूरी तरह से निश्चिंत रहते हैं। अपनी किसी भी आवश्यकता के लिए उन्हें परापेक्ष नहीं रहना पड़ता। उससे जितनी मात्रा में जो कुछ मिलता है, वही उनके जीवन का आधार होता है। ‘अमृत संसद’ भी सही अर्थ में कल्पवृक्ष का रूप ले। न केवल इसके सांसद, पूरा समाज इससे लाभान्वित हो, यह अपेक्षा है।

14. तेरापंथ : बुद्धिजीवी सम्मेलन

अस्तित्व को पहचानने, दूसरे अस्तित्वों से जुड़ने, सामयिक पहचान बनाने और अपने अस्तित्व को समाज के लिए उपयोगी बनाने के लिए इंटेलेक्चुअल फोरम ने आकार लिया। उस फोरम ने एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन बुलाने के पीछे एक सार्थक उद्देश्य था और उद्देश्य को पूरा करने की बेचैनी थी। वह बेचैनी जन्मी थी आचार्यश्री तुलसी के मन में। आज से कई साल पहले उन्होंने एक सपना देखा था। वह सपना था तेरापंथ समाज के बौद्धिक वर्ग को सामाजिक एवं संघीय दृष्टि से सक्रिय करने का। हर सपना सच हो, यह जरूरी नहीं है। पर आचार्यश्री ने अपने अधिकांश सपनों को सच बना लिया। कैसे बना लिया? इस चर्चा में अभी नहीं जाना है। पर उनका यह विश्वास है कि जो सपने अब तक अधूरे हैं, वे भी पूरे होंगे। कैसे होंगे? इसकी प्रक्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है। एक दिन आता है, सपना सच बन जाता है। इससे आचार्यश्री को अतिरिक्त आत्मतोष मिलता है।

एक नया प्रयोग

समाज के बुद्धिजीवी लोगों की एक कॉन्फ्रेंस बुलाने के लिए एक बौद्धिक मंच का गठन हुआ। उस मंच के लिए अपना संदेश देते हुए आचार्यश्री ने कहा—‘समाज में नए मूल्यों की स्थापना कर उसे सुन्दर शकल देने की बड़ी जिम्मेदारी है प्रबुद्ध वर्ग की। आम आदमी कोई नई लकीर नहीं खींच सकता। वह निर्धारित नीतियों पर चल सकता है, पर कुछ नया करने का साहस उसमें नहीं होता। इस दृष्टि से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि समाज का बुद्धिजीवी वर्ग एकत्रित होकर सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक एवं राजनैतिक मूल्यों के विषय में भी चिंतन करे और आने वाली पीढ़ी के लिए ठोस धरातल का निर्माण करे।’

आचार्यश्री के संदेश ने बौद्धिक मंच के थोड़े से कार्यकर्ताओं में चेतना का संचार कर दिया। उन्होंने 16-18 अगस्त 1988 को दिल्ली के फिक्की गोल्डन जुबली हॉल में 'तेरापंथ बुद्धिजीवी सम्मेलन' आमंत्रित कर लिया। आमंत्रण उन व्यक्तियों के लिए था, जो स्नातकोत्तर या तत्समकक्ष योग्यता प्राप्त हों। महिलाओं की शैक्षणिक योग्यता स्नातक रखी गई। शायद आयोजकों की यह कल्पना रही होगी कि महिलाओं की शिक्षा स्नातक होने के साथ ही संपन्न हो जाती है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं की अभिरुचि उत्तरोत्तर विकासशील है। समाज में स्नातकोत्तर महिलाओं की सूची भी बहुत लम्बी होती जा रही है।

नई-नई कल्पनाओं, संभावनाओं के साथ अगस्त की प्रतीक्षा शुरू हो गई। पन्द्रह अगस्त को हमारे देश ने अपनी आजादी के चालीस साल पूरे किए और इकतालीसवें वर्ष में प्रवेश कर लिया। नए वर्ष में प्रवेश के साथ ही बुद्धिजीवी सम्मेलन के प्रतिनिधियों का आगमन शुरू हो गया। सोलह अगस्त की सुबह तक सैकड़ों प्रतिनिधि पहुंच गए। सबके मन में उत्साह था कुछ नया जानने का, पाने का और करने का। स्त्री-पुरुष, युवा और बुजुर्ग सभी इस सम्मेलन के प्रतिनिधि थे। युवकों की संख्या अधिक थी।

खणं जाणाहि

16 अगस्त 1988 को प्रातः ठीक नौ बजे 'फिक्की सभागार' में अखिल भारतीय तेरापंथ बुद्धिजीवी सम्मेलन शुरू हुआ। आचार्यश्री का मंगल सान्निध्य सबको उल्लसित कर रहा था। लगभग चार सौ प्रतिनिधि और शेष आमंत्रित लोगों से सभागार पूरा भरा हुआ था। सभागार में एक खामोशी और रहस्यमयता छाई थी, जो संकेत दे रही थी यहां कुछ अपूर्व होने जा रहा है। आचार्यश्री के ठीक सामने बुद्धिजीवी मंच का आदर्श वाक्य—**खणं जाणाहि** कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया था। खणं जाणाहि समय का मूल्य आंको। भगवान महावीर का यह सूक्त एक-एक क्षण को सार्थक और सफल बनाने की प्रेरणा दे रहा था। उद्घाटन कार्यक्रम के बाद उस फोटो को मंच की दीवार पर लगा दिया गया ताकि वह सम्मेलन में उपस्थित सब लोगों की आंखों के सामने रहे। मंच पर आचार्यश्री, युवाचार्यश्री, साधु-साध्वियां और

उद्घाटन समारोह में विशेष रूप से आमंत्रित व्यक्ति विराजमान थे। सामने कुर्सियों पर प्रतिनिधि तथा अनुमति पत्र प्राप्त व्यक्ति निश्चिन्त होकर बैठे थे। दिल्ली महिला मंडल की लगभग तीस महिला स्वयंसेविकाएं अखिल भारतीय महिला मंडल के गणवेश में विशेष स्थानों पर खड़ी थीं। वे आगन्तुक प्रतिनिधियों को बैठने का स्थान आदि अत्यन्त शालीनता के साथ बता रही थीं। महिलाओं की वह जागरूक क्रियाशीलता सबको अच्छी लगी।

नमस्कार महामंत्र और मंगल पाठ का समुच्चारण कर आचार्यवर ने सबको सावधान कर दिया। सब लोग अपने-अपने स्थान पर खड़े हुए। उन्होंने मंत्र का कवच पहना और बैठ गए। मंगलगीत गाने वाली बहनें मंच पर आईं और बिजली चली गई। वे मौन होकर प्रकाश की प्रतीक्षा करने लगीं। सभागार में निःशब्द अन्धकार व्याप गया। आचार्यवर द्वारा उच्चारित मंगलमंत्र के शब्द उस समय थम गए थे, पर एक जीवन्त स्पन्दन पूरे वातावरण में भर गया था। कुछ क्षणों की प्रतीक्षा के बाद बिजली आ गई। सभागार प्रकाशमय हो गया। प्रकाश के साथ ही बहनों के स्वर थिरकने लगे—

**जागे शुभ संस्कार समय का अंकन हो,
पुष्ट बने आधार समय का अंकन हो।।**

पूरा गीत भावपूर्ण था। आचार्यवर ने विशेष अनुग्रह कर इसी अवसर के लिए उस नवीन गीत का सृजन किया था। सम्मेलन के घोष अथवा आदर्श वाक्य 'खणं जाणाहि' का सामूहिक उच्चारण प्रमादी मनोवृत्ति पर सीधा प्रहार कर रहा था। बौद्धिक मंच के संयोजक श्री सी. आर. भंसाली ने सम्मेलन के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला। आगन्तुक विद्वानों और अतिथियों को साहित्य का उपहार दिया गया।

बिन्दु-बिन्दु विचार

भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी प्रसिद्ध विधिवेत्ता श्री लक्ष्मीमल सिंघवी ने बुद्धिजीवी की विडम्बनाओं का उल्लेख करते हुए कहा—'बुद्धिजीवी शब्द पश्चिम से आयातित है। हमारी संस्कृति का शब्द है विनयजीवी। जो लोग स्वयं को बुद्धिजीवी कहते हैं, वे नया अलगाव करते हैं, नया वर्ग स्थापित

करते हैं, जिसका कोई उपयोग नहीं है। बुद्धिजीवी विवेकजीवी बनें। वे भारतीय मनीषा तक पहुंचकर नई दृष्टि प्राप्त करें। वे इस बात को समझें कि अक्षर के बिना भी अक्षय की साधना हो सकती है। शब्दों की सिद्धि के बिना शब्द भी व्यर्थ हो जाते हैं। यहां उपस्थित युवाशक्ति को बुद्धि के साथ करुणा की लोकयात्रा में आगे बढ़ना है। बुद्धिजीविता की यही सार्थकता है।’

महावीर विकलांग समिति के संस्थापक राजस्थान मुख्यमंत्री के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता ने बुद्धिजीवियों में निहित सृजनचेतना को जगाने पर बल दिया। उनके अनुसार अनुकरण की प्रवृत्ति एक मूर्ख में भी हो सकती है, पर उसमें सृजन की चेतना नहीं होती। बुद्धिजीवी सृजनात्मक तरीके से नई शैली का विकास करें तो वे अपना वैशिष्ट्य प्रमाणित कर सकते हैं।

प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्त्री श्रीमती इन्दु जैन ने बुद्धिजीवियों के सामने कुछ चुनौती भरे सवाल उपस्थित किए। सभागार की व्यवस्था में महिलाओं के कर्तृत्व ने इन्दुजी को प्रभावित किया। उन्होंने इसके लिए आचार्यवर की सूझबूझ के प्रति आभार प्रकट किया।

अणुव्रत इंटरनेशनल के अध्यक्ष श्री शुभकरण दसाणी ने बुद्धिजीवियों के लिए करणीय काम सूत्र रूप में प्रस्तुत किए—

- महावीर वाणी को अन्तरराष्ट्रीय जगत में पहुंचाना।
- संसद तथा अन्य क्षेत्रों में जैनधर्म का प्रतिनिधित्व करना।
- ज्वलंत राष्ट्रीय समस्या दुर्भिक्ष आदि से निपटने का प्रयास करना।
- प्रौढ़ शिक्षा आदि रचनात्मक काम हाथ में लेना।
- शिक्षा, चिकित्सा आदि के संदर्भ में क्षेत्रीय दृष्टि से संगठित होकर काम करना।

मुनि महेन्द्रकुमारजी (मुम्बई) ने बुद्धिजीवियों को अपनी तलाश के निश्चय के साथ नई यात्रा शुरू करने का परामर्श दिया।

अणुव्रत प्रवक्ता श्री यशपाल जैन ने कहा—‘वैयक्तिक साधना जरूरी है, पर उससे समाज को लाभ न मिले तो वह अधूरी है। आचार्यश्री धर्मपुरुष हैं,

पर आपने समाज के दुःख-दर्द के साथ स्वयं को जोड़ लिया। बुद्धिजीवियों के भी अपने-अपने दुःख-दर्द हैं। आचार्यश्री के पास पहुंचकर हर कोई स्वयं को हल्का महसूस करता है, क्योंकि आप उसका दुःख बांट लेते हैं।’

उद्घाटन सत्र के लिए नौ से ग्यारह बजे का समय था। कुछ औपचारिकताएं और कुछ आवश्यकताएं थीं, निर्धारित समय पूरा हो गया। अब तक न तो युवाचार्यश्री का मार्गदर्शन मिला और न अमृतपुरुष ने अमृतवर्षा की। ऐसे लोग भी उस समय उपस्थित थे, जिन्हें अग्रिम सत्रों से पहले लौटना था। वे खाली हाथ लौटना नहीं चाहते थे। सबकी भावना थी। आचार्यवर को अनुरोध किया गया। आचार्यश्री ने कृपा की। उद्घाटन सत्र का समय कुछ लम्बा कर दिया गया।

व्यक्तित्व निर्माण की योजना

युवाचार्यश्री ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और संयम को शरण स्वरूप बताते हुए कहा—‘भगवान महावीर में इन सभी शरण तत्त्वों का समाहार हो जाता है। महावीर ऐसा शब्द है जो अखण्ड व्यक्तित्व का प्रतीक है। आज जो काम शुरू हो रहा है, वह अखण्ड व्यक्तित्व के निर्माण की योजना है। खण्डित व्यक्तित्व समस्याएं पैदा करता है। बुद्धि बड़ी खतरनाक चीज है। बुद्धि के साथ नेगेटिव एटीट्यूड जुड़ने से खतरे ज्यादा बढ़ गए हैं। बुद्धि के साथ भावात्मक विकास हो तो वह कामधेनु बन सकती है—**शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः**। बौद्धिक व्यक्ति पढ़ता है, लिखता है, जानता है, समझता है, पर उसके जीवन में समग्रता नहीं आती। समग्रता के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम और महावीर की शरण में जाना जरूरी है। आप लोग यहां आए हैं, बुद्धिजीवी की अर्हता के साथ आए हैं, पर यहां से लौटते समय अखण्ड व्यक्तित्व की परिकल्पना के साथ संबुद्धजीवी होकर जाएंगे, यह लक्ष्य रखना है।’

बुद्धिजीवी धर्मजीवी बनें

‘बुद्धिजीवी सबसे पहले स्वयं को पहचानें। स्वयं की पहचान का सबसे सरल तरीका है आत्मकर्तृत्व में विश्वास। आत्मकर्तृत्व के प्रति आस्थाहीन

व्यक्ति अपने सुख-दुःख का जिम्मा दूसरों पर डालते हैं। जबकि हर व्यक्ति स्वयं ही ऊंचाई तक पहुंचता है और स्वयं ही अंधेरे-गर्त में गिरता है। जीवन की ऊंचाई तक पहुंचने के लिए बुद्धिजीवी को धर्मजीवी बनना चाहिए। **धम्मणं चैव वित्तिं कप्पेमाणा** धर्म के आधार पर जीविका प्राप्त करने की कला जीवन की विसंगति नहीं है, विवेक का परिचय है। इस कला में निष्णात वे हो सकते हैं, जो अपने हाथ में अप्रमाद का दीया लेकर चलते हैं। यह धर्मजीविता का रास्ता संयम का रास्ता है। संयम में सब प्रकार की समस्याओं का समाधान है। आज देश के सामने एक गम्भीर समस्या है सूखे की। वर्षा किसी के वश की बात नहीं है, पर संयम करने में हर व्यक्ति स्वतंत्र है। पानी का संयम, खाद्य-पदार्थों का संयम, विलासिता का संयम। संयम की चेतना जग जाए तो सूखे की भयंकरता अपने आप कम होगी। इस दृष्टि से मैं कहना चाहता हूँ कि बुद्धिजीवी धर्मजीवी बनें। वे ज्ञान प्राप्त करें, पर ज्ञान के साथ गर्व का हाथ न थामें। यह बात उन्हें इस सम्मेलन से सीखनी है। उक्त विचार अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने बुद्धिजीवी सम्मेलन के उद्घाटन सत्र में प्रकट किए। इन विचारों से लोगों को एक नई दृष्टि मिली। उस दृष्टि के अनुरूप दिशा खोजने की छटपटाहट कई व्यक्तियों की आंखों में झलक रही थी।

दो दिन का क्रम

उद्घाटन सत्र के अतिरिक्त द्विदिवसीय सम्मेलन में पांच सत्र समायोजित हुए। उनमें क्रमशः सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, व्यावसायिक, मानवीकी तथा साहित्य और कला के संदर्भ में व्यापक चर्चा हुई। प्रत्येक सत्र में निर्धारित विषयों पर कुछ पेपर पढ़े गए। लगभग सौ पेपर लिखित रूप में प्राप्त हुए थे। सम्मेलन में बहुत कम पेपर पढ़े गए। कुछ समय तक प्रश्नोत्तरों का क्रम चला। प्रश्नोत्तर काल में एक ओर जिज्ञासाओं के बन्द दरवाजे खुल रहे थे, दूसरी ओर मन का असंतोष जुबान पा रहा था, तीसरी ओर सुझावों का सिलसिला चल रहा था तो किसी ओर से प्रश्नों के नाम पर लम्बे-चौड़े विचार लिखित रूप में आ रहे थे। कुल मिलाकर प्रतिनिधियों में पूरी जागरूकता थी। वे प्रथम बार आयोजित इस सम्मेलन को अपने लिए, समाज के लिए, धर्मसंघ

के लिए हर तरह से उपयोगी बनाना चाहते थे। अनेक प्रतिनिधियों की यह आकांक्षा थी कि ऐसा सम्मेलन प्रतिवर्ष हो। कुछ प्रतिनिधि बौद्धिक मंच के अस्तित्व को स्थायित्व देने के पक्ष में थे। कुछ प्रतिनिधियों ने प्रत्येक क्षेत्र में इस मंच की शाखा खोलने की मांग की। पूरा माहौल इस बात का साक्षी था कि सम्मेलन के आयोजन के पीछे सार्थक उद्देश्य है और सारी कार्यवाही उस उद्देश्य से प्रतिबद्ध है।

दो दिनों में लगभग पन्द्रह घंटे सत्रबद्ध कार्यक्रम चले। रात्रि के समय दोनों ही दिन आचार्यवर का सान्निध्य मिला। प्रतिनिधियों को व्यक्तिगत स्तर पर परिचित होने और अपने मन की भावना को प्रकट करने का अवसर प्राप्त हो गया। दिन में सभा की शालीनता की दृष्टि से जो औपचारिकताएं बरती जातीं, वे रात्रि के समय सर्वथा समाप्त हो जातीं। गुरु और शिष्य के बीच सीधा संवाद स्थापित करने वाले वे क्षण कितने अनमोल थे, बताना संभव नहीं है।

धार्मिक मंच पर युवापीढ़ी

बुद्धिजीवी सम्मेलन में समवेत प्रतिनिधियों की परिचययात्रा ने समाज के बहुआयामी व्यक्तित्व को उजागर किया। समाज की युवापीढ़ी शिक्षा के क्षेत्र में किस उच्चता को छूने लगी है, पूरा विवरण संकलित नहीं है। सम्मेलन में उपस्थित सीमित युवकों में भी अनेक युवा ऐसे थे, जो शिक्षा और व्यवसाय के नए क्षितिज खोल चुके थे।

सम्मेलन में इतनी बड़ी संख्या में इतने युवा उपस्थित हो सकेंगे, किसी को कल्पना ही नहीं थी। आयोजक संदिग्ध थे। अनुमान के अश्व पर सवारी करने वालों की धारणा थी कि अधिक से अधिक चालीस-पचास युवक आ सकेंगे। यह धारणा निराधार नहीं थी। जैसाकि अक्सर होता है—धर्मस्थानों और धर्म के मंच से आयोजित कार्यक्रमों में युवा चेहरे इने-गिने दिखाई देते हैं। आज धर्म और समाज के बड़े-बड़े नेताओं को चिंता है कि युवापीढ़ी को धर्म के सम्मुख कैसे किया जाए? ऐसी स्थिति में लगभग चार सौ युवक एक बुलावे पर दिल्ली पहुंचे। वे ऐसे समय पर दिल्ली पहुंचे, जब वहां

आतंकवाद का भय छा रहा था। अफवाहों का बाजार गर्म था। समाचार-पत्र सुर्खियों में ऐसे संवाद छाप रहे थे, जो दहशत पैदा करने वाले थे। पन्द्रह अगस्त के आसपास कहीं भी कुछ अनिष्ट हो सकता है, इस संभावना से दिल्ली में पुलिस का जाल बिछा हुआ था। अस्थिरता उत्पन्न करने वाले ऐसे समय में देश के दूरदराज भागों से युवक आए। आशा और उत्साह के साथ आए। अन्य लोगों को भरोसा हो या नहीं, आचार्यश्री को पूरा भरोसा था कि युवक आएंगे। क्योंकि धर्म की अर्थहीन अवधारणाओं को तोड़कर आपने धर्मक्रान्ति का शंखनाद फूँका तो युवापीढ़ी की मूर्च्छा टूट गई। वह अपनी दीर्घकालीन सुषुप्ति को छोड़कर उठ खड़ी हुई। बुद्धिजीवी सम्मेलन ने प्रमाणित कर दिया कि सही दिशा दी जाए तो युवक धर्म के मामले में भी मौन नहीं हैं। इस उपक्रम से प्रतिनिधियों को कई प्रकार की नई जानकारीयाँ मिलीं, गलतफहमियाँ मिटीं, दायित्वबोध का प्रकाश मिला और समाजरचना तथा मनोरचना के अनुरूप काम करने की भावना ने जन्म लिया।

अस्मिता की पहचान

समाज में प्रथम श्रेणी के बुद्धिजीवियों की उपस्थिति सामाजिक गौरव की बात है। इस श्रेणी में शिक्षाशास्त्री, विधिवेत्ता, वैज्ञानिक आदि का समावेश होता है। यहां तक पहुंचने की अभीप्सा जगना अच्छी बात है, पर पूरे समाज में जैन दर्शन का सुप्रसिद्ध विद्वान खोजा जाए तो एक महाशून्य दिखाई देता है। इस महाशून्य को भरना भी जरूरी है। अन्यथा समाज का व्यक्तित्व अखण्ड नहीं बन सकेगा। इस सन्दर्भ की चर्चा में आचार्यश्री ने गहरी चिन्ता व्यक्त की। आपने प्रबुद्ध युवकों को जैन दर्शन का गंभीर अध्ययन करने का आह्वान किया तो अनेक युवकों के मन आन्दोलित हो उठे। उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा मानो वे ज्ञान-सागर के तट पर खड़े हैं। उनके भीतर उस सागर को पीने की अबाध प्यास जागृत हो गई।

मनुष्य तब तक विद्या, वित्त और शिल्प का सम्यक् विकास नहीं कर सकता, जब तक वह प्रसन्न मन से देश-देशान्तर में भ्रमण नहीं कर लेता है। यह सुभाषित इस अर्थ में शत-प्रतिशत सही है या नहीं, पर इतना निश्चित है कि उसकी अनुभव संपदा तब तक नहीं बढ़ती, जब तक वह विशिष्ट जनों के

साथ नहीं बैठता, विशेष गोष्ठियों में सम्मिलित नहीं होता। बौद्धिक सम्मेलन में उपस्थित प्रायः सभी प्रतिनिधियों ने इस बात का अनुभव किया कि वे सम्मेलन में नहीं आते तो बहुत बातों से वंचित रह जाते। समाज के विशिष्ट लोगों से मिलन, विचारविमर्श, सामाजिक गतिविधियों पर मुक्तचर्चा आदि में सक्रिय भागीदारी के बाद उन्हें अपनी अस्मिता की पहचान हो गई। अन्यथा वे सोच रहे थे कि दस-बीस व्यक्ति ही समाज के अधिकृत नेता हैं।

सम्मेलन के दूसरे दिन धारणा जड़मूल से उखड़ गई जब आचार्यवर के छोटे से इंगित पर समाज के सभी वरिष्ठ नेता और बुजुर्ग लोग अग्रिम सीटों को बुद्धिजीवियों के लिए खाली करके स्वयं पीछे जाकर बैठ गए। बुद्धिजीवी सम्मेलन में प्रतिनिधि बनकर आने वाले लोग पीछे बैठे थे। बुद्धिजीवी सम्मेलन में प्रतिनिधि बनकर आने वाले लोग पीछे बैठे, यह वास्तव में ही अटपटा-सा लग रहा था। बैठने के बाद उठना कितना कठिन होता है, यह अनुमान किया जा सकता है, पर समाज के लोग इतने विनीत, समर्पित और अनुशासित हैं कि आचार्यश्री का निर्देश होने के बाद एक पल भी बिना लगाए तत्काल उसकी क्रियान्विति हो जाती है। कठिनाई एक ही है कि छोटी-बड़ी हर घटना में औचित्य का इंगित आचार्यवर को करना होता है। साधु-साध्वी, सामाजिक कार्यकर्ता तथा आयोजक भी इस दृष्टि से बेपरवाह से रहते हैं।

अनुशासन के उदाहरण

युगीन मनोरचना में अनुशासन के स्थान पर स्वच्छन्दता के संस्कार अधिक सक्रिय हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवी लोग सामाजिक अनुशासन में अपना योगदान कैसे दे सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान दो दिन का कार्यक्रम था। प्रातः नौ बजे से अपराह्न पांच बजे तक लगभग सात-सात घंटे पूरी तरह से संयत और अनुशासित रूप से सभा में उपस्थित रहना, अपने विचारों के अनुकूल और प्रतिकूल सब प्रकार के विचारों को शान्ति से सुनना और किसी-किसी मौके पर उभरी उत्तेजना को एक संकेतमात्र से भीतर ही भीतर पी जाना अनुशासन का उदाहरण था। इतने बुद्धिजीवी इतने लम्बे समय तक एक साथ बैठें, चर्चा करें और सभा की शालीनता का अतिक्रमण न हो, यह उनकी सांस्कृतिक गरिमा का प्रतीक था।

अनुशासन का दूसरा उदाहरण था कायोत्सर्ग का प्रयोग। सभागार में उपस्थित युवा, बुजुर्ग सभी लोगों ने एक साथ दस मिनट तक कायोत्सर्ग का प्रयोग कर सम्मेलन को प्रायोगिक रूप दे दिया। कायोत्सर्ग की मुद्रा में सब लोग इतने शान्त और आत्मलीन हो गए थे कि समय पूरा होने पर भी कुछ लोग मूलस्थिति में नहीं लौट सके।

अनुशासन का तीसरा उदाहरण था जैनधर्म की दीक्षा। सम्मेलन में समवेत सब लोग जैन थे, पर इस अर्थ में वे जन्मना जैन थे। समझ-बूझकर जैनधर्म की दीक्षा स्वीकार करने का भी एक मूल्य है। इससे संकल्पशक्ति का विकास होता है, आस्था मजबूत होती है और व्यक्ति के आसपास जनमती एवं पनपती बुराइयों से बचने के लिए सुरक्षा कवच प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से आचार्यवर ने आह्वान किया। प्रतिनिधि खड़े हो गए। जैनत्व से ओत-प्रोत संकल्पों के सामूहिक उच्चारण की ध्वनि-तरंगों ने सभागार को अनूठी दिव्यता से भर दिया।

इस अभिक्रम को देखकर कुछ लोग तो आश्चर्य में डूब गए। आचार्यश्री पढ़े-लिखे इतने लोगों को इस प्रकार जैनधर्म की दीक्षा स्वीकार करा देंगे, देखने-सुनने वालों को भी विश्वास नहीं हो रहा था, पर आचार्यवर के शब्दों का जादू और समाज को ऊंचाई तक ले जाने की तड़प ने एक-एक बुद्धिजीवी को भीतर तक हिला दिया। इसीलिए दीक्षा स्वीकार के अवसर पर कोई बैठा नहीं रह सका।

अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान-तेरापंथ धर्मसंघ के व्यापक कार्यक्रम हैं। इन कार्यक्रमों को जन-जन तक पहुंचाने में साधुसंघ पूरी तरह से सक्रिय है, पर समाज के प्रबुद्ध कार्यकर्ता जब तक इसके साथ नहीं जुड़ते हैं, कार्यक्रम को विस्तार देने में कुछ कठिनाइयां रहती हैं। उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए युवाचार्यश्री (आचार्य महाप्रज्ञ) ने बुद्धिजीवियों से प्रशिक्षक-योग्यता प्राप्त करने का आह्वान किया। आपने कहा—‘यदि पांच सौ प्रशिक्षण तैयार हो जाएं तो धर्मचक्र का प्रवर्तन हो सकता है।’ यह बात सबको सुखद लगी पर इसके लिए समय लगाकर प्रशिक्षक पाने और प्रशिक्षक बनने के बाद समय विसर्जन करने की बात पर एक बार गहरी खामोशी छा गई। थोड़ी

देर बाद कुछ युवा प्रतिनिधियों ने साहस किया। वे खड़े हुए और नाम देने वालों की एक कतार लग गई। यद्यपि यह कतार बहुत लम्बी नहीं थी, फिर भी प्रारम्भ की दृष्टि से शुभ और संतोषजनक थी।

उम्मीद से अधिक

दो दिनों के बाद प्रतिनिधियों को अपने-अपने गांव, घर लौटना जरूरी था। वे लौटे पर एक अतृप्ति के साथ। एक-दो दिन का समय और मिलता तो उन्हें बहुत कुछ जानने-सीखने को मिलता। दिल्ली आते समय उनके मन में अनिश्चिन्तता थी। क्या होगा, कैसे होगा, उन्हें कौन पूछेगा, उनके साथ कैसा सलूक होगा? सम्मेलन में क्या वे अपनी जिज्ञासाओं के पंख खोल सकेंगे? इस प्रकार के संदेहों से घिरे नए चेहरे मन में एक झिझक का भाव लेकर आए, किन्तु यहां से लौटते समय उन चेहरों पर संतोष की झलक थी। उन्होंने कुछ अद्भुत या मौलिक पाया या नहीं, लेकिन जितना पाया, वह उनकी उम्मीद से अधिक था।

दर्शकों और समीक्षकों की पैनी दृष्टि सम्मेलन की हर गतिविधि पर अटकी रही। प्रायः सभी लोगों ने मुक्तभाव से सम्मेलन की सराहना की। यों थोड़ी-बहुत कमी तो किसी भी आयोजन में रह सकती है। फिर यह तो अपने ढंग का पहला आयोजन था। आयोजक नए थे, समय भी बहुत अधिक नहीं था। फिर भी जो निष्पत्तियां आईं, वे कल्पना से कम नहीं थीं।

सम्मेलन की संपन्नता के अवसर पर आचार्यवर द्वारा दिए गए प्रवचन का एक-एक शब्द प्रतिनिधियों के लिए आलोक स्तम्भ बन रहा था। भविष्य की अजानी राहों में पांव रखते समय वे उस आलोक को साथ रख पाए तो उनके मार्ग में कहीं भी अवरोध नहीं आ सकेगा। उनके उन्नत और चरित्रसंपन्न जीवन की मंगल कामना उन्हें अधिक वर्चस्वी एवं यशस्वी बनाएगी, उनकी रचनात्मक प्रतिभा को निखारेगी, ऐसा विश्वास है।

15. तेरापंथ : बरगद की छांव

आचार्य तुलसी के मस्तिष्क-हिमालय से चिन्तन के नित नए निर्झर प्रवाहित होते रहते थे। यदि उन विचार तरंगों को हम कागज की धरती पर कलम की नोक से समग्रता से उतार पाते तो एक नया और विरल इतिहास बनता। आचार्यश्री ने “मैं तेरापंथी क्यों हूँ” इस शीर्षक से एक पुस्तक लिखनी प्रारंभ की। लगभग चौदह पन्द्रह पृष्ठ ही लिखे गए। गुरुदेव ने जिस गंभीरता से लिखाया कि हम तेरापंथी क्यों हैं? इसका सटीक समाधान उसमें मिलता है। मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर प्रत्येक तेरापंथी को इस संदर्भ में सोचना चाहिए।

तेरापंथी परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति जन्मना तेरापंथी कहलाता है। लेकिन तेरापंथी क्यों है? इस प्रश्न को सामने रखकर उसे गंभीर चिंतन करना चाहिए। तेरापंथ धर्मसंघ की एक-एक विशेषताएं भले वह संगठन पक्ष की है, आचार-विचार की है, मर्यादा या व्यवस्था की है—आप उसे जानते हैं या नहीं? समझते हैं तो उनसे लाभान्वित होते हैं या नहीं? अपने जीवन में उन विशेषताओं को जीने का कितना प्रयत्न किया? मैं अपनी भावी पीढ़ी को विरासत में संस्कारों की सम्पदा कितनी दे सकूंगा? क्या आप जानते हैं कि मर्यादाएं हमारे लिए सुरक्षा-कवच है? क्या आप इस सुरक्षा-कवच होने का पल-पल अहसास कर रहे हैं? हम प्रतिवर्ष मर्यादा-महोत्सव मनाते हैं। क्या मर्यादा-महोत्सव को बर्थ डे की तरह मनाकर आप अपने घर लौट जाते हैं? वस्तुतः मर्यादा-महोत्सव एक ऐसा महापर्व है, जहां जीवन निर्माण की प्रेरणा मिल सकती है। मर्यादा-महोत्सव में सम्मिलित होने वाले सदस्यों को एक वर्ष यह अहसास होता रहे कि धर्मसंघ की मर्यादाएं क्या हैं, कैसी हैं? हम मर्यादाओं का पालन कितना करते हैं? श्रावक समाज द्वारा मर्यादा

की स्खलना तो नहीं हो रही? यदि स्खलना होती है तो आत्मालोचन करते हैं या नहीं? आत्मालोचन करने का अर्थ होता है मर्यादा की आस्था को अधिक सुदृढ़ बनाना।

मर्यादा-महोत्सव के दिन आचार्यवर ने मर्यादा-पत्र दिखाया वह दो सौ वर्ष पुराना पत्र था।

यह मर्यादा-पत्र जीर्ण-शीर्ण बन गया है, लिपिकला की दृष्टि से देखें तो सुन्दर से सुन्दर कार्ड सामने आ रहे हैं। पर उन सबके सामने यह पत्र अनमोल है, इसकी कीमत कोई आंक नहीं सकता। यह तेरापंथ का प्राण है। उसी के आधार पर यह संघ चल रहा है। एक आचार्य का नेतृत्व संघ के संगठन और विकास का मूलमंत्र है। यह उसी मर्यादा-पत्र की महत्त्वपूर्ण देन है। इस पत्र के साथ तेरापंथ का इतिहास जुड़ा है, इसलिए हमारे लिए सर्वाधिक मूल्यवान है।

भगवान राम चौदह वर्ष का वनवास पूरा कर अयोध्या आए। उनका राजतिलक हुआ, खूब उत्सव मनाया गया। राम माताओं को प्रणाम करने के लिए गए। इस क्रम में कैकयी के महल में गए। वहां अनुज वधुएं उर्मिला, मांडवी और श्रुतकीर्ति उपस्थित थीं। कैकयी से आशीर्वाद लेकर अनुज वधुओं पर प्रसन्नता की वर्षा करते हुए कहा—‘तुम लोग जो मन हो, मांगो। मैं तुम लोगों को पुरस्कृत करना चाहता हूं।’

उर्मिला बोली—‘आप श्रीलक्ष्मण को अपने साथ लेकर गए मेरे लिए यही सबसे बड़ा पुरस्कार है।’ मांडवी ने कहा—‘आपने भरतजी पर इतना विश्वास किया कि उन्हें राज्य संचालन का दायित्व सौंपा। इससे महत्त्वपूर्ण उपहार क्या होगा?’ श्रुतकीर्ति ने गंभीर स्वरों में निवेदन किया—‘तात! मेरी इच्छा है जिन वल्कली वस्त्रों को आपने वनवास में पहना, मुझे वे दे दें।’ राम ने प्रश्न की भाषा में कहा—‘श्रुतकीर्ति उनका तुम क्या करोगी?’

श्रुतकीर्ति बोली—‘मैं रघुकुल की भावी पीढ़ियों को यह बताना चाहती हूं कि हमारे कुल में एक ऐसा प्रतापी राजा हुआ था, जो जंगल में त्यागियों की तरह, तपस्वियों की तरह रहा था। इस गौरवशाली इतिहास के प्रतीक बनेंगे ये वस्त्र, जो सदियों, सहस्राब्दियों तक प्रेरणा की सौरभ बिखेरेंगे।’

जैसे वल्कली वस्त्र रघुकुल की धरोहर है, उसी तरह मर्यादा-पत्र हमारे धर्मसंघ की धरोहर है। हमारे आचार्यों ने इसे सुरक्षित ही नहीं रखा, दिन प्रतिदिन इसकी गरिमा को ऊंचाइयां दी हैं। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा है, मर्यादा-पत्र की उपयोगिता लाख गुणा अधिक प्रवर्धमान हो रही है। मर्यादा-महोत्सव के दिन आचार्यवर ने जीवन की मर्यादा, परिवार की मर्यादा, संघ/समाज की मर्यादा और राष्ट्र की मर्यादा को सूक्ष्मता से आत्मसात करने की प्रेरणा दी। यदि इस कथन को हम आत्म स्वीकृति नहीं देंगे तो सफल जीवन नहीं जी सकेंगे। तेरापंथ धर्मसंघ में आज जितना विकास हुआ है उसका आधार मर्यादा और आचार्यों का जागरूक चिन्तन है।

आचार्यवर ने केवल तेरापंथ धर्मसंघ को ही नहीं समूची मानव जाति को युगानुरूप दिशादर्शन दिया है। इसलिए तेरापंथ के कर्तृत्व की परिधि में आज समूचा संसार है। तेरापंथ धर्मसंघ के पास प्रबुद्ध साधु-साध्वियों की एक फौज है, यह महत्वपूर्ण है पर इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि तेरापंथ में सम्मिलित होने वाले छोटे-बड़े सभी सदस्यों के निर्माण की तड़प आचार्यों के मन में है। उनके पास प्रशिक्षण का उपक्रम है। ऐसे महान संघ के प्रति हमारे मन में गहरी आस्था का भाव होना चाहिए। हम सदा यही सोचें—

इणमेवणिगंथंपावयणंसच्चं.....—जिनशासनहीसत्यहै,सर्वोपरि है, अनुत्तर है।

तेरापंथ धर्मसंघ में एक आचार्य का नेतृत्व है, पर यहां अधिनायकवाद नहीं है। संघ के हर सदस्य को स्वतंत्र रूप से चिंतन करने और विचार रखने का अधिकार है। संघीय अनुशासन की डोर में कसाव है, इसकी व्यवस्थाएं ठोस और सुदृढ़ हैं पर आरोपित नहीं, आत्मना स्वीकृत है। विकास के लिए सबको समान और उन्मुक्त अवसर उपलब्ध है। इसीलिए अनुशासन की छांव में सब खुश हैं, प्रसन्न हैं, आनंदमय हैं, निश्चित हैं। भले जीवन में उतार आए या चढ़ाव, अनुकूलता आए या प्रतिकूलता आए, हम चिन्ता क्यों करें। हमारी चिन्ता करने वाले कर रहे हैं।

संत गोगोजु नौका विहार कर रहे थे। सहसा समुद्र में तूफान की संभावना प्रबल हो गई। देखते-देखते तूफान आ गया। साथ में एक शिष्य

था, वह घबरा गया। वह बोला—‘गुरुजी! तूफान आ गया। आप तो सहज शान्त ऐसे निश्चित बैठे हैं मानो गुफा में समाधि पाने ध्यान लगाकर बैठे हैं। ज्योंही तूफानी लहरें नौका से टकराने लगीं, शिष्य और अधिक भयभीत हो उठा। ऐसे क्षणों में संत गोगोजु ने अपने हाथ में तलवार ली और शिष्य के गर्दन पर रख दी। शिष्य हंसने लगा। गुरु ने पूछा—‘तुम्हारे गर्दन पर तलवार है और तुम हंस रहे हो?’

शिष्य ने शांतभाव से उत्तर देते हुए कहा—‘गुरुदेव! हंसू क्यों नहीं। तलवार और किसी के नहीं, गुरु के हाथ में हैं।’ रहस्य को अनावृत्त करते हुए संत बोले—‘मूर्ख! मेरे हाथ में तलवार देखकर तुम निश्चित हो तो फिर तूफान देखकर भयभीत क्यों हुए। तूफान तो तेरे-मेरे नहीं, परमात्मा के हाथ में है।’

तेरापंथ धर्मसंघ की छांव तले सांस लेने वाले साधु-साध्वी श्रावक-श्राविकाओं को यह बात मानकर चलना चाहिए कि हमारे संघ की पतवार आचार्य के हाथ में है। हमें चिन्ता करने की अपेक्षा ही नहीं है। साधु समाज और श्रावक समाज—दोनों सदा-सदा के लिए निश्चित हैं।

16. तेरापंथ : आध्यात्मिक समृद्धि

‘संघे शक्तिः कलौ युगे’ प्रस्तुत सूक्त कलियुग में संघ/संगठन की शक्ति का महत्त्व उजागर कर रहा है। युग कोई भी हो, संघ की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कहने वालों ने तो यहां तक कह दिया—संहत्याऽमृतमश्नुते—संगठन से अमरत्व की प्राप्ति होती है। एक दृष्टि से यह सत्य भी है। व्यक्ति अकेला होता है। उसकी परम्परा कैसे चलेगी ? संघ रत्नाकर होता है। वह विभिन्न अर्हताओं वाले अनेक व्यक्तियों का समवाय होता है। उसकी परम्परा आसानी से बढ़ सकती है।

लगभग ढाई हजार वर्ष पहले जैन परम्परा में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर हुए। तीर्थ/संघ की स्थापना करके ही वे तीर्थंकर बने थे। उनका परिनिर्वाण हुआ। गणधर सुधर्मा ने संघ की बागडोर संभाली। उनकी परम्परा में अनेक तेजस्वी और यशस्वी आचार्य होते रहे। 257 वर्ष पहले वि.सं. 1817 (ईस्वी सन् 1760) में भीखणजी नाम के एक आत्मार्थी सन्त/भावितात्म अनगार हुए। उन्होंने धर्मक्रान्ति कर तेरापंथ धर्मसंघ की बुनियाद रखी। उस धर्मक्रान्ति का उद्देश्य था भगवान महावीर की परम्परा की अविच्छिन्ति।

किसी नए संघ/संगठन की स्थापना करना आचार्य भिक्षु का लक्ष्य नहीं था। एक मात्र आत्महित साधने की उदग्र आकांक्षा ने उनको प्रेरित किया। मौत को मुट्ठी में लेकर उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया। नियति का चक्र घूमा। कुछ ही समय बाद उनकी धर्मक्रान्ति को नई पहचान मिली—तेरापंथ। एक बार वे चौंके, पर अवश्यंभाविता को टाला नहीं जा सका। उसी वर्ष आषाढी पूर्णिमा के दिन मेवाड़ के केलवा गांव में उन्होंने भाव दीक्षा स्वीकार

की। तीन दिन की तपस्या में किया गया वह उनका अनुष्ठान ही तेरापंथ का स्थापना दिन हो गया।

आचार्य भिक्षु के व्यक्तित्व, कर्तृत्व, सुदृढ़ अनुशासन और व्यवस्था पक्ष से प्रभावित होकर अनेक व्यक्ति (भाई और बहनें) संघ में दीक्षित होने लगे। कुछ व्यक्ति स्वतः दीक्षा के लिए प्रेरित हुए, कुछ व्यक्ति साधु-साध्वियों के सम्पर्क से तैयार हुए और कुछ व्यक्तियों को आचार्य भिक्षु से प्रतिबोध प्राप्त हुआ। मुनिश्री हेमराजजी (सिरियारी) को तो उन्होंने पदयात्रा के बीच रास्ते में खड़े होकर यौक्तिक ढंग से समझाया कि वे उसी समय आजीवन विवाह न करने के लिए संकल्पित हो गए। आचार्य भिक्षु के शासन काल में संघ में 49 साधु और 56 साध्वियां हुईं।

विकास के विविध आयाम

तेरापंथ एक विकासप्रधान संघ है। इसके विकास के आधारभूत तत्व हैं—आत्मनिष्ठा, संघनिष्ठा, आज्ञानिष्ठा, आचारनिष्ठा और मर्यादानिष्ठा। निष्ठापंचक के बीज आचार्य भिक्षु द्वारा निर्मित संविधान में हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इन बीजों को सिंचन देकर अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित किया। आचार्यश्री महाश्रमण ने प्रथम पदाभिषेक समारोह के दिन साधु-साध्वियों की अन्तरंग परिषद में निष्ठा-पंचामृत का व्यवस्थित पान कराया।

तेरापंथ के हर आचार्य ने संघ को बेहतर बनाने के सपने देखे और देख रहे हैं। अपने विजन और मेहनत के नतीजे वे उत्तरवर्ती आचार्य को सौंपते रहे। उनको समग्र संघीय विकास की परिकल्पना के साथ जोड़कर काम करने से विकास की सरिता निरन्तर प्रवहमान है। यह सरिता विस्तार पाती हुई एक दिन सागर बन जाए, यह काम्य है।

लगभग ढाई सौ वर्षों की अवधि में संघ में 837 साधु और 1852 साध्वियां दीक्षित हो गईं। साधु-साध्वियों की संख्या और गुणवत्ता भी बढ़ी है। साधना, शिक्षा, शोध, साहित्य, सेवा, कला, यात्रा, वक्तृत्व, लेखन, प्रबन्धन आदि अनेक क्षेत्रों में साधु-साध्वियों का कर्तृत्व मुखर हो रहा है।

इस विकास यात्रा में संघ के आचार्यों द्वारा जो अवसर उपलब्ध कराए गए, उनको कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। किसी भी व्यक्ति में प्रतिभा, योग्यता, ज्ञान और हुनर हो सकता है। जब तक उसका सही समय और उपयुक्त रूप में इस्तेमाल नहीं हो, वह फलवान नहीं बन सकता।

विकास के साथ कुछ खतरे भी हो सकते हैं। आचार्य तुलसी ने शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए साध्वियों को विशेष अवसर प्रदान किए, उस समय कुछ व्यक्तियों ने निवेदन किया—‘गुरुदेव! आपके संघ में साध्वियों का बड़ा समुदाय है। आप साध्वियों को पढ़ा रहे हैं, आगे बढ़ा रहे हैं। इससे इनकी श्रद्धा और समर्पण भाव प्रभावित नहीं होगा क्या? हमें लगता है कि आप खतरा मोल ले रहे हैं।’

गुरुदेव ने निवेदनकर्ताओं की बात ध्यान से सुनी और कहा—‘खतरे की आशंका से मैं अपने संघ में विकास के दरवाजे बन्द नहीं कर सकता। बौद्धिकता के साथ तर्कशक्ति विकसित होती है, यह मैं जानता हूँ। इस आधार पर साध्वियों को शिक्षा से वंचित रखूँ तो उनकी उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न नहीं लग जाएगा? दूसरी बात, साध्वियों का बौद्धिक विकास संघीय विकास का एक प्रमुख घटक है। इसलिए मैं उनकी शैक्षणिक गतिविधियों को रोकना नहीं चाहता।’

साध्वियों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करने का सूत्र गुरुदेव श्री तुलसी को पूज्य कालूगणी से मिला था। गुरुदेव ने उस पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उसकी निष्पत्ति सबके सामने है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने साध्वियों और समणियों की ज्ञान-यात्रा को आगे बढ़ाया। वर्तमान में आचार्यश्री महाश्रमणजी भी उनके विकास की दृष्टि से पूरे जागरूक हैं।

तेरापंथ की वर्धमानता

विकास के विविध आयाम हैं। संख्याबल भी एक ऐसा आयाम है, जो संघ की श्रीवृद्धि या समृद्धि का प्रतीक है। महापुरुष जो सपना देखते हैं, उसे साकार करने का संकल्प करते हैं और तदनु रूप पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते रहते हैं, वह स्वप्न प्रायः फलवान बन जाता है।

आचार्यश्री महाश्रमणजी ने गुरुदेवश्री तुलसी की जन्म शताब्दी में साधु-साध्वियों की एक सौ दीक्षाओं का लक्ष्य बनाया। लक्ष्य-सिद्धि की अनुप्रेक्षा होती रही। निर्धारित समय तक लक्ष्य सिद्ध हो गया। आचार्यवर के विचार-वातायन से चिन्तन की नई-नई तरंगें निकलती रहती हैं। सन् 2017 में विशेष चिन्तन की दृष्टि से उन्होंने एक मुद्दा प्रस्तुत किया—सन् 2030 की सम्पन्नता के क्षण तक तेरापंथ की आध्यात्मिक समृद्धि कितनी ऊंचाई तक पहुंचाई जा सकती है। आध्यात्मिक समृद्धि का एक घटक है संख्या बल। इस दृष्टि से कॉन्फ्रेंस में विचारणीय बिन्दु यह भी है कि जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ में उस समय साधुओं, साध्वियों और समणश्रेणी के सदस्यों की संख्या कितनी हो जानी चाहिए, उसका लक्ष्य निर्धारित कर लक्ष्य-प्राप्ति का प्रारूप और प्रविधि तैयार की जाए।

मुख्य बात है धर्मसंघ की वर्धमानता। प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्यश्री महाश्रमणजी द्वारा निर्धारित लक्ष्य ही सम्पूर्ण धर्मसंघ का लक्ष्य बने और उसे साधने के लिए कार्यक्षम सभी साधु-साधवियां यथासंभव प्रयास करती रहें, यह अपेक्षित है। संघ और संघपति के द्वारा हमें बहुत-कुछ मिल रहा है। यदि संघ की श्रीवृद्धि में हमारा किंचित भी योग जुड़ता है तो वह हमारे जीवन की सार्थकता है। संभावनाओं का आकाश बहुत व्यापक होता है। सन् 2030 तक दीक्षा के प्रसंग में बहुत बड़ी संभावनाएं की जा सकती हैं, पर यथार्थ का धरातल ठोस हो, यह जरूरी है। इक्कीसवीं सदी में बढ़ते हुए भौतिक आकर्षक और सुख-सुविधाओं के साधन नई पीढ़ी को संयम के पथ पर बढ़ने से रोक सकते हैं। गृहस्थ जीवन में रस होने पर साधु जीवन के कष्ट मनोबल को कमजोर कर सकते हैं। इस स्थिति में शक्यता के आधार पर साधुओं की न्यूनतम संख्या दो सौ, साध्वियों की छह सौ और समणश्रेणी सौ को पार कर आगे बढ़े, यह अभीष्ट है। इस लक्ष्य को तीन या चार वर्षों का अन्तर्लक्ष्य बनाकर साधने का प्रयास किया जा सकता है।

निर्धारित लक्ष्य को साधने की प्रविधि

एक विचारक ने सफलता के सिद्धान्त पर विचार करते हुए लिखा है— 'एक विचार को अपना जीवन बनाओ। उसके बारे में सोचो। उस विचार को जीओ। अपने मस्तिष्क, मांसपेशियों और शरीर के हर हिस्से को उस विचार में डूब जाने दो। बाकी विचारों को किनारे कर दो। यही सफलता का सूत्र है।'

भगवान महावीर ने कहा—**एगप्पमुहे विदिसप्पइण्णे** एक आत्मा को प्रधान मानकर चलो। अन्य दिशाओं से मन को हटाकर आत्मलीन बनने का प्रयास करो। इस बात को यों भी कहा जा सकता है—अन्य लक्ष्यों को गौण करके एक लक्ष्य को प्रमुख मानकर पुरुषार्थ करो। जैन वाङ्मय में एक शब्द आता है—अणुपेहा—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—निर्धारित लक्ष्य का सतत अनुचिन्तन। अनुचिन्तन को क्रियात्मक रूप देने के लिए तदनुरूप पुरुषार्थ की अपेक्षा है। इस दृष्टि से काम करने की रुचि रखने वाले चयनित साधु-साध्वियों को विशेष निर्देश दिया जा सकता है।

प्रतिवर्ष सात भाइयों और पन्द्रह बहनों को मुमुक्षु के रूप में संस्कारित करके आचार्यवर के सान्निध्य में उपस्थित किया जा सके तो उनका यथेष्ट परिणाम आ सकता है।

जिन क्षेत्रों में मुमुक्षु भाई-बहनों को तैयार करने की संभावना हो, वहां उपयुक्त साधु-साध्वियों का प्रवास रहे, प्रायः निरन्तर आध्यात्मिक सिंचन मिलता रहे तो श्रम की सार्थकता हो सकती है। बीच-बीच में व्यवधान होने अथवा पूरी संभाल न होने से वैचारिक शिथिलता की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मूल बात है वैराग्य का उद्भव और स्थिरीकरण। प्राचीनकाल में बालक-बालिकाओं को झूठ, चोरी, ईर्ष्या, कलह, आसक्ति आदि निषेधात्मक भावों के परिणाम चित्रों के माध्यम से समझाए जाते थे। वैराग्यवर्धक गीत व कहानियां सुनाई जाती थीं। नरक गति और तिर्यच गति के कष्टपूर्ण रोमांचक दृश्य देख-सुनकर उनके मन में सिहरन पैदा हो

जाती थी। इस प्रकार के निमित्त चारित्र-मोहनीय के क्षयोपशम में सहायक बन जाते थे।

वर्तमान पीढ़ी की मानसिकता अलग प्रकार की है। उसकी अपनी महत्वाकांक्षाएं होती हैं। माता-पिता अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा के लिए होस्टलों में भेजकर निश्चिन्त हो जाते हैं। उनको वर्षों तक गुरुदर्शन का मौका नहीं मिलता। कुछे किशोर-किशोरियां एक-दो दिन के लिए आ भी जाएं तो उनकी साइकोलॉजी को समझने का प्रयास नहीं होता। उपयुक्त वातावरण, सम्पर्क और प्रेरणा के अभाव में वैराग्य का जागरण कठिन प्रतीत होता है।

आजकल शिक्षा, व्यवसाय, आपसी सामंजस्य, जीवनशैली आदि विषयों में काउंसलिंग की जा रही है। काउंसलर सम्बन्धित व्यक्तियों को उपयुक्त परामर्श देकर उनकी समस्याओं का हल सुझाते हैं। कुछ साधु-साध्वियों को इस दिशा में विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाए। अपने जीवन के सन्दर्भ में संशय के दोराहे-चौराहे पर खड़े किशोर-किशोरियों को सही ढंग से परामर्श देकर वैराग्य के पथ पर अग्रसर किया जाए तो मुमुक्षु भाई-बहनें की अच्छी पौध तैयार हो सकती है।

संस्कार-निर्माण और संस्कारों की परिपक्वता के लिए मनोवैज्ञानिक पद्धति का उपयोग अपेक्षित प्रतीत होता है। प्रतिबोध के पारम्परिक तरीकों को बदलना जरूरी है। इसके साथ साधु-साध्वियों की जीवनशैली भी बदलाव मांगती है। हम उनसे सेवा की अपेक्षा करें, उससे पहले उनके व्यक्तित्व को इस रूप में तराशें कि संघीय सेवा आत्मधर्म बन जाए।

उपर्युक्त चिन्तन को कुछ बिन्दुओं में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

- वैराग्य के लिए तदनुरूप वार्ता, गीत और कहानियों का उपयोग।
- हिंसा, कलह, आसक्ति आदि निषेधात्मक भावों के परिणाम की चर्चा।
- नरक गति, तिर्यच गति में प्राप्त होने वाले रोमांचक दृश्यों को दिखाना।

- व्यक्तिगत सम्पर्क और बातचीत के माध्यम से निकट लेने का प्रयास करना।
- किशोर-किशोरियों के साथ काउंसलिंग करके उन्हें भावी जीवन के बारे में उचित परामर्श देना।
- तत्त्वज्ञान के माध्यम से संसार को समझाने का प्रयास करना।
- साधु जीवन में होने वाली निश्चिंतता और व्यक्तित्व-विकास की संभावनाओं के बारे में समुचित जानकारी देना।

परिशिष्ट

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा : जीवन-परिचय

बीसवीं सदी के प्रख्यात धर्मनायक, लाखों लोगों की आस्था के केन्द्र, गति, प्रकाश और ऊर्जा के पर्याय, महामानव आचार्यश्री तुलसी की एक विलक्षण कृति है—संघमहानिदेशिका महाश्रमणी असाधारण साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्यों के निर्देशन में साध्वी-समाज का पांच दशकों तक कुशल नेतृत्व कर इन्होंने एक गौरवपूर्ण कीर्तिमान बनाया है। शुभ्रवसना, ज्योति-शक्तिस्वरूपा ये एक अप्रमत्त साधिका हैं जिनमें अध्यात्मनिष्ठा, गुरुनिष्ठा और संघनिष्ठा की त्रिवेणी प्रवाहित है।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी का जन्म 22 जुलाई सन् 1941 को कोलकाता महानगर में हुआ। इनके पिता का नाम सूरजमलजी बैद एवं माता का नाम छोटी बाई था। बालिका कला बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि, विवेकशील एवं संकोची स्वभाव की थी। 15 वर्ष की आयु (सन् 1956) में उन्होंने पारमार्थिक शिक्षण संस्था में प्रवेश किया। लगभग 4 वर्षों की प्रशिक्षण अवधि के दौरान कला ने विनम्र एवं मेधावी मुमुक्षु के रूप में अपना स्थान बनाया।

गुरु पूर्णिमा का पवित्र दिन (8 जुलाई, सन् 1960) उम्र के 19वें पायदान पर, तेरापंथ की उद्गम स्थली केलवा में नवमाधिशस्ता आचार्यश्री तुलसी से चारित्र ग्रहण किया। गुरु की पवित्र सन्निधि में व्याकरण, कोश, तर्कशास्त्र, आगम, दर्शन आदि अनेक विद्या-शाखाओं का तलस्पर्शी अनुशीलन कर सप्तवर्षीय संघीय पाठ्यक्रम में विशेष योग्यता प्राप्त की। अध्ययन-अध्यापन और लेखन के साथ हजारों पद्य परिमाण कण्ठस्थ कर साध्वियों की अग्रिम पंक्ति में स्थान बना लिया।

12 जनवरी सन् 1972, गंगाशहर की गौरवशाली धरा पर आचार्यश्री तुलसी ने इन्हें साध्वीप्रमुखा पद पर नियुक्त किया। उस समय इनकी अवस्था मात्र 30 वर्ष थी। तब से लेकर अनवरत तेरापंथ की अष्टम साध्वीप्रमुखा के रूप में गुरुत्रयी (श्री तुलसी-महाप्रज्ञ-महाश्रमण) के पावन निर्देशन में ये विशाल साध्वी समुदाय का गरिमापूर्ण नेतृत्व कर रही हैं।

इनके बहुआयामी व्यक्तित्व, नेतृत्व और कर्तृत्व को विविध रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

प्रभावी प्रवक्ता

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी एक प्रभावशाली वक्ता हैं। इनका वक्तव्य एक-एक वाक्य को प्रेरणा-दीप बनाने वाला प्रतीत होता है। शब्दों का सहज प्रवाह, रोचक उदाहरण, संक्षिप्तता और नवीनता इनके वक्तृत्व की विरल विशेषताएं हैं। अनेकशः अनुभव होता है कि एक बार साध्वीप्रमुखाश्री का प्रवचन सुनने वाला व्यक्ति सदा के लिए इनके प्रभाव-क्षेत्र में आ जाता है। विशेष संघीय उपक्रम हो या सार्वजनिक कार्यक्रम, सभा-संस्था के अधिवेशन हों या दैनिक प्रवचन, गंभीर वक्तृत्व-शैली श्रोताओं के अन्तःकरण को परिवर्तन की दिशा में प्रस्थित कर देती है।

प्रबुद्ध साहित्यकार

साध्वीप्रमुखाश्रीजी साहित्य-क्षितिज पर एक प्रौढ़ लेखिका के रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्राञ्जल भाषा, प्रभावी लेखन शैली, कसे हुए वाक्य तथा तथ्य-कथ्य की पूर्ण अभिव्यक्ति देने वाला शब्द-शिल्पन इनकी सृजन चेतना के अपूर्व वैशिष्ट्य हैं। भाव, भाषा और शैली का यह अद्भुत सौष्ठव पाठक को अथ से इति तक बांधे रखता है। गद्य, पद्य, इतिहास, उपन्यास, यात्रावृत्त, जीवनवृत्त आदि विविध विधाओं में इनकी लेखनी निर्बाध रूप से प्रवाहित हुई है।

इस साहित्यिक प्रतिभा ने न केवल सामान्य पाठकों को बल्कि देश के प्रसिद्ध साहित्यकारों, मूर्धन्य लेखकों और विचारकों को भी प्रभावित किया है।

नैसर्गिक कवयित्री

साध्वीप्रमुखाश्रीजी को निसर्गतः काव्य प्रतिभा प्राप्त है। इनकी कविताओं में संवेदनशीलता, सौन्दर्य बोध, क्रान्ति की गूँज और भक्ति का प्रवाह स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। 'सांसों का इकतारा' तथा 'धूप-छांव' दो प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं, जिनमें विविध विषयस्पर्शी 200 से अधिक कविताओं का समाहार है। इनके द्वारा रचित शताधिक गीतों में भक्ति-समर्पण के साथ-साथ युगीन समस्याओं का समाधान भी समाहित है। संस्कार-निर्माण एवं नारी सशक्तीकरण के सन्दर्भ में भी इन्होंने अन्तःस्पर्शी गीत रचे हैं।

'तुलसी-प्रबोध' एवं 'विकास की वर्णमाला' इनकी गागर में सागर तुल्य सरस गेय कृतियां हैं।

कुशल संपादिका

लेखिका और कवयित्री होने के साथ-साथ साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ख्यातिप्राप्त संपादिका भी हैं। आचार्यश्री तुलसी ने हिन्दी, संस्कृत और राजस्थानी भाषा में तत्त्वविद्या, दर्शन, योग, काव्य-साहित्य, जीवन-चरित्र, आध्यात्मिक-औपदेशिक गीतों से सम्बद्ध शताधिक ग्रन्थों की सर्जना की। उनमें अधिकांश ग्रन्थों का संपादन साध्वीप्रमुखाजी ने किया। तुलसी जन्म शताब्दी (सन् 2014) के अवसर पर तुलसी वाङ्मय को नए परिवेश में प्रस्तुत कर एक ऐतिहासिक कार्य किया। वाङ्मय में समाहित आचार्यश्री तुलसी की आत्मकथा 'मेरा जीवन : मेरा दर्शन' (25 खण्ड) को कालजयी ग्रन्थमाला माना जा सकता है। आगम सम्पादन कार्य में भी संपृक्त रहीं। विशालकाय भगवती सूत्र की जोड़ (7 खण्ड) का श्रमसाध्य सम्पादन इनकी स्थितप्रज्ञता का प्रतीक है।

व्यक्तित्व निर्मात्री

साध्वीप्रमुखाश्रीजी का आध्यात्मिक व्यक्तित्व चतुर्विध धर्मसंघ के अनेक व्यक्तियों को नई दृष्टि और नई दिशा देने वाला है। साध्वियों की प्रतिभा को निखारकर, युगानुरूप उन्हें आगे बढ़ाकर, संस्कारों की

सुरक्षा-संवर्धन कर ये अपना दायित्व निर्वहन कर रही हैं। संघीय धरातल पर साध्वी-समाज और महिला-समाज के अनेक सक्षम व्यक्तित्व इनके कर्तृत्व की फलश्रुति है। साध्वीप्रमुखाजी ने नारी की नैसर्गिक विशेषताओं, क्षमताओं और सेवाओं को उभारकर उसके व्यक्तित्व को अपरिमेय ऊँचाई प्रदान की है। अस्तित्व-बोध से लेकर दायित्व-बोध तक उसे प्रशिक्षित किया है। क्रान्त विचारों और सशक्त लेखनी द्वारा ये महिला समाज का आध्यात्मिक पथदर्शन कर रही हैं।

प्रशासन एवं प्रबन्धन-वेत्ता

साध्वीप्रमुखाजी का प्रशासन एवं प्रबंधन कौशल बेजोड़ है। इनकी मृदु अनुशासना साध्वियों के विकास का पथ प्रशस्त करती है। अयाचित कृपा, वत्सलता और आत्मीयतापूर्ण प्रेरणा इनकी प्रशासन शैली के आधारभूत अंग हैं। इसी प्रशासन-कौशल की बदौलत ये चतुर्विध धर्मसंघ की आस्था धाम बनी हुई हैं।

प्रशासनिक दक्षता के साथ-साथ इनकी प्रबन्धन पटुता भी विलक्षण है। समय-प्रबन्धन, कार्य-प्रबन्धन एवं व्यक्ति-प्रबन्धन में इनका वैशिष्ट्य विख्यात है। सद्यः स्फुरित मनीषा, स्फूर्ति और सुनियोजित कार्यशैली ने इनके जीवन में कामयाबियों के कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

संघीय सम्मान

तेरापंथ के महान तेजस्वी गुरुत्रयी युग में अपनी विनम्र सेवाएं समर्पित कर साध्वीप्रमुखाजी कृतार्थता का अनुभव कर रही हैं। समय-समय पर युगद्रष्टा आचार्यों के मुख कमल से निःसृत उद्गार इनके वजनदार व्यक्तित्व और कर्तृत्व के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी इस अद्वितीय कृति को **महाश्रमणी** (9 सितम्बर सन् 1989) और **संघमहानिदेशिका** (8 नवम्बर सन् 1991) जैसे महनीय पदों से तथा वर्तमान अनुशास्ता ने **असाधारण साध्वीप्रमुखा** (1 अगस्त 2016) एवं 'अहिंसा यात्रा को विभूषित करने वाली विभूति' (6 दिसम्बर 2020) के रूप में प्रतिष्ठित किया।

साध्वीप्रमुखाजी द्वारा सम्पादित साहित्य

(तुलसी वाङ्मय)

आत्मकथा साहित्य

1. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
2. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
3. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
4. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
5. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
6. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
7. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
8. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
9. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
10. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
11. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
12. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
13. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
14. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
15. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
16. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
17. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
18. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
19. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
20. मेरा जीवन : मेरा दर्शन

21. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
22. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
23. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
24. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
25. मेरा जीवन : मेरा दर्शन

गद्य साहित्य

26. महावीर : जीवन और दर्शन
27. हे प्रभो! यह तेरापंथ
28. तेरापंथ का प्राणतत्त्व
29. क्रान्तिकारी आचार्य भिक्षु
30. प्रज्ञापुरुष जयाचार्य
31. महामनस्वी आचार्यश्री कालूगणी
32. अध्यात्म : अन्तस का स्पर्श
33. निर्ग्रन्थ प्रवचन ही परम सत्य है
34. अर्हत ने कहा
35. जैन दर्शन : आत्म दर्शन
36. जैन तत्त्वविद्या
37. अहिंसा : अमृत का महासागर
38. धम्मं सरणं पवज्जामि
39. जैन जीवनशैली
40. निर्माण : नए मानव का
41. प्रेक्षाध्यान : अध्यात्म का सोपान
42. अणुव्रत : गति प्रगति
43. अणुव्रत के आलोक में
44. अणुव्रत : नैतिकता का शंखनाद
45. शिक्षा : रूपान्तरण की प्रक्रिया
46. सन्देश : देश के नाम

47. दोनों हाथ : एक साथ
48. कुहासे में उगता सूरज
49. सार्थकता संवाद की
50. मेरी अनुभूतियां : मेरी कृतियां
51. सीख सुमत
52. तुलसी साहित्य की बोधकथाएं

काव्य साहित्य

53. माणक-डालिम-चरित्र
54. कालूयशोविलास-1
55. कालूयशोविलास-2
56. मगन चरित्र
57. सेवाभावी मुनि चम्पक
58. लाडां-वदना-सुजस
59. भरत-मुक्ति
60. चन्दन की चुटकी भली
61. आत्मोदय की ओर
62. आत्मा के आसपास
63. श्रावक-संबोध
64. पण्णा समिक्खए
65. तेरापंथ-प्रबोध : सम्बोध
66. नन्दन निकुंज
67. सोमरस
68. सुधारस
69. तुलसी-पदावली

संस्कृत साहित्य

70. जैनसिद्धान्तदीपिका
71. भिक्षुन्यायकर्णिकामनोनुशासने

72. काव्यामृतम्
73. निबन्धनिकुरम्बम्

पत्र : सन्देश : संवाद साहित्य

74. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-1
75. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-2
76. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-3
77. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-1
78. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-2
79. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-3
80. सन्देश : राष्ट्र नेताओं के नाम
81. संवाद : शिखर पुरुषों के साथ
82. संवाद : प्रबुद्ध पुरुषों के साथ
83. तुलसी पद्य साहित्य : सन्दर्भ कोश - 1
84. तुलसी पद्य साहित्य : सन्दर्भ कोश - 2

जय साहित्य

85. भगवती जोड़ - 1
86. भगवती जोड़ - 2
87. भगवती जोड़ - 3
88. भगवती जोड़ - 4
89. भगवती जोड़ - 5
90. भगवती जोड़ - 6
91. भगवती जोड़ - 7
92. झीणी चर्चा (सानुवाद)
93. आराधना (सानुवाद)

साध्वीप्रमुखाजी द्वारा आलेखित साहित्य

यात्रा साहित्य

1. रण की गोद में
2. जा घर आए संत पाहुने
3. तीन समुद्रों के तट पर
4. नए प्रदेश : नए अनुभव
5. जोगी तो रमता भला
6. बहता पानी निरमला
7. पांव-पांव चलने वाला सूरज
8. पंजाब में अध्यात्म का उजाला
9. संत चरण गंगा की धारा
10. जब महक उठी मरुधर माटी
11. परस पांव मुसकाई घाटी
12. गांधी के गुजरात में
13. धर कूंचां : धर मजलां
14. अरावली के अंचल में
15. उत्सव : आधी शताब्दी का
16. अमृत घट छलके
17. भारत ज्योति बनाम आत्मज्योति
18. अमृत पुरुष : जन्मभूमि में
19. यमुना के तीर पर
20. परिक्रमा प्रकाश की

गद्य साहित्य

21. अकथ कथा गुरुदेव की
22. लिखन बैठि जाकी छवि
23. करत-करत अभ्यास
24. कदम-दर-कदम
25. आधी दुनिया
26. बदले युग की धारा
27. विकास पुरुष ऋषि हेम
28. स्मृति के दर्पण पर
29. गणं सरणं गच्छामि
30. आयरियं सरणं गच्छामि
31. धम्मो दीवो पइट्ठा
32. एस धम्मे धुवे
33. सोपान निर्माण के
34. सत्यं शिवं सुन्दरं
35. सफर सम्पादन का - 1
36. सफर सम्पादन का - 2
37. प्रेरणा का दरिया

काव्य साहित्य

38. सांसों का इकतारा
39. धूप-छांव
40. बिन बाती बिन तैल
41. तुलसी-प्रबोध
42. विकास की वर्णमाला

संस्मरण साहित्य

43. प्रेरणा : पल दो पल की - 1
44. प्रेरणा : पल दो पल की - 2
45. प्रेरणा : पल दो पल की - 3

46. प्रेरणा : पल दो पल की – 4
47. प्रेरणा : पल दो पल की – 5
48. प्रेरणा : पल दो पल की – 6

पत्र साहित्य

49. धरोहर अक्षरों की – 1
50. धरोहर अक्षरों की – 2
51. धरोहर अक्षरों की – 3